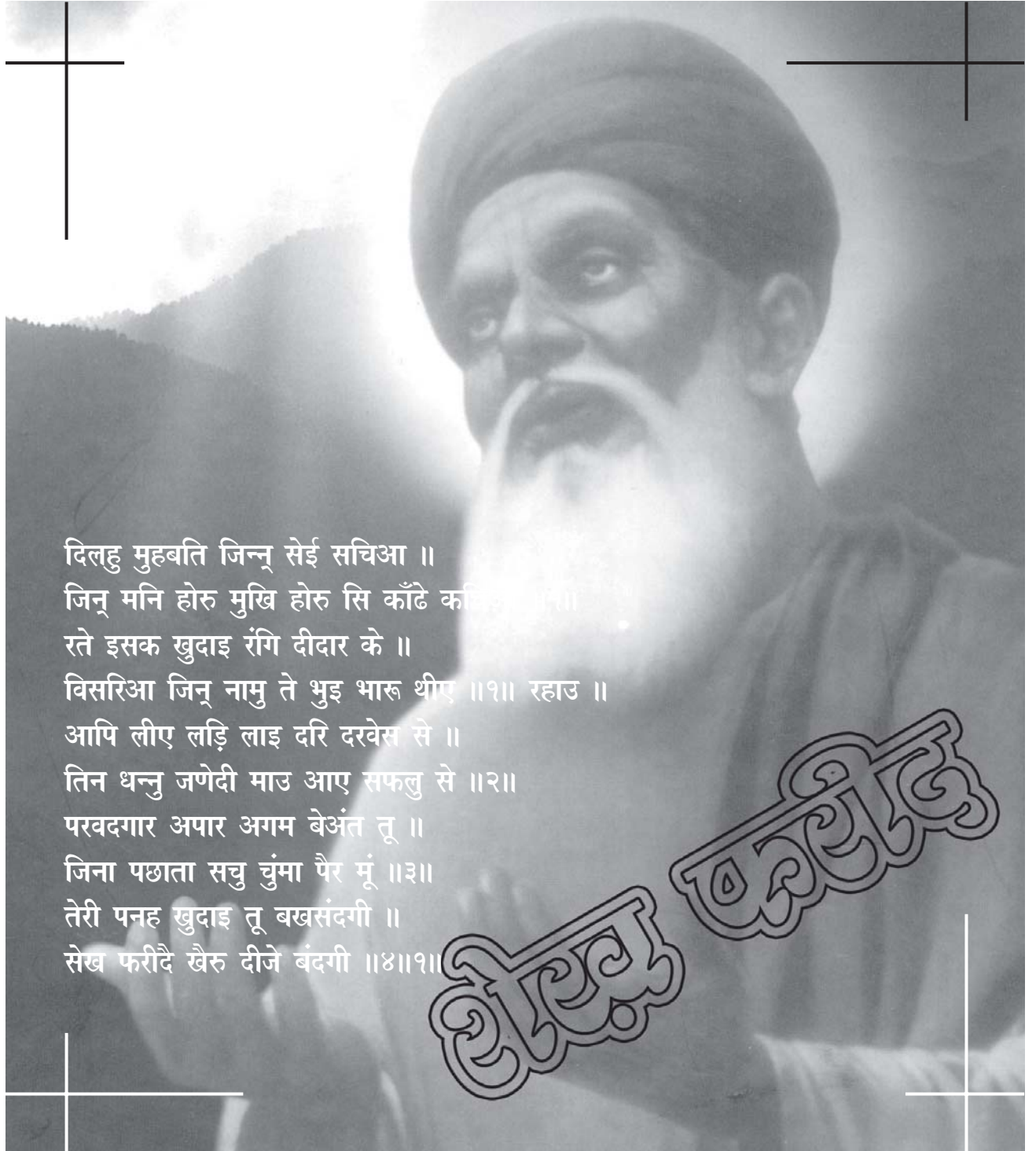


# समरथ



जुलाई-अक्टूबर 2009 ♦ नई दिल्ली



दिलहु मुहबति जिन् सेई सचिआ ॥  
जिन् मनि होरु मुखि होरु सि काँढे कर्षिआ ॥  
रते इसक खुदाइ रंगि दीदार के ॥  
विसरिआ जिन् नामु ते भुइ भारू थीए ॥१॥ रहाउ ॥  
आपि लीए लड़ि लाइ दरि दरवेस से ॥  
तिन धन्नु जणेदी माउ आए सफलु से ॥२॥  
परवदगार अपार अगम बेअंत तू ॥  
जिना पछाता सचु चुंमा पैर मूं ॥३॥  
तेरी पनह खुदाइ तू बखसंदगी ॥  
सेख फरीदै खैरु दीजे बंदगी ॥४॥१॥

दीखत करीद

# पंजाब की साझी विरासत का स्वागत

बाबा फरीद के श्लोक, बुल्ले शाह की काफियाँ, वारिस शाह की हीर और फजल शाह का किस्सा सोहणी-महीवाल ये सब पंजाबी साहित्य की अत्यंत लोकप्रिय और कालजयी कृतियाँ हैं। पंजाब के इन मुसलमान सूफी संतों ने दिव्य प्रेम की ऐसी धारा प्रवाहित की जिससे संपूर्ण लोकमानस रस से सरोबार हो उठा और इसी के साथ एक ऐसी साझी संस्कृति भी विकसित हुई जिसकी लहरों से मजहबी भेद-भाव की सभी खाइयाँ पट गईं।

पंजाबी साहित्य की यह बहुमूल्य विरासत एक तरह से संपूर्ण भारतीय साहित्य की भी अनमोल निधि है लेकिन बहुत कुछ लिपि के अपरिचय और कुछ-कुछ भाषा की कठिनाई के कारण पंजाब के बाहर का बृहत्तर समाज इस धरोहर के उपयोग से वंचित रहता आया है। वैसे, इस अवरोध को तोड़ने की दिशा में इक्के-दुक्के प्रयास पहले भी हुए हैं। उदाहरण के लिए कुछ समय पहले प्रोफेसर हरभजन सिंह शेख फरीद और बुल्ले शाह की रचनाओं को हिंदी अनुवाद के साथ नागरी लिपि में सुलभ कराने का स्तुत्य प्रयास कर चुके हैं। संभव है, इस प्रकार के कुछ और काम भी हुए हों।

लेकिन वारिस शाह की हीर और फजल शाह का किस्सा सोहणी-महीवाल तो, मेरी जानकारी में, हिंदी में पहले-पहल अब आ रहे हैं और कहना न होगा कि इस महत्वपूर्ण कार्य का श्रेय नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पंजाब के स्टडीज को है। ये चारों पुस्तकें 'पंजाब हेरीटेज सीरीज' के अंतर्गत एक बड़ी योजना के साथ तैयार की गई हैं। मुझे इस योजना से परिचित करवाने और फिर एक प्रकार से संयुक्त करने की कृपा मेरे आदरणीय शुभचिंतक प्रोफेसर अमरीक सिंह ने की है और इसके लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।

सच पूछिए तो आज हिंदी में हीर को देखकर मुझे फिराक साहिब का वह शेर बरबस याद आता है :

दिल का इक काम जो बरसों से पड़ा रक्खा है

तुम ज़रा हाथ लगा दो तो हुआ रक्खा है।

हीर को हिंदी में लाना सचमुच दिल का ही काम है और ऐसे काम को अंजाम देने के लिए दिल भी बड़ा चाहिए। पंजाब भारत का वह बड़ा दिल है--इसे कौन नहीं जानता! फरीद, बुल्ले शाह, वारिस शाह, फजल शाह--ये सभी उसी दिल के टुकड़े हैं।

—नामवर सिंह

## सतिगुर प्रसादि॥

### आसा सेख फरीद जीऊ की बाणी

दिलहु मुहबति जिन् सेई सचिआ ॥

जिन् मनि होरु मुखि होरु सि काँटे कचिआ ॥१॥

रते इसक खुदाइ रंगि दीदार के ॥

विसरिआ जिन् नामु ते भुइ भारू थीए ॥१॥ रहाउ ॥

आपि लीए लड़ि लाइ दरि दरवेस से ॥

तिन धन्नु जणेदी माउ आए सफलु से ॥२॥

परवदगार अपार अगम बेअंत तू ॥

जिना पछाता सचु चुंमा पैर मूं ॥३॥

तेरी पनह खुदाइ तू बखसंदगी ॥

सेख फरीदै खैरु दीजे बंदगी ॥४॥१॥

जो जीव परमात्मा के साथ दिल से सच्चा प्यार करते हैं वे ही सही प्रेमी हैं। जिनके मन में कुछ है और मुख में कुछ है, वे झूठे हैं ॥१॥ जो जीव परमात्मा के प्यार में लीन हैं और उसके दर्शन-रंग में रँगे हुए हैं, (वे ही वास्तव में प्रभु के जीव हैं), नाम को भुला देने वाले जीव तो भूमि का बोझ मात्र होते हैं ॥१॥ रहाउ। प्रभु-दरबार के सच्चे फकीर वे ही हैं, जिन्हें परमात्मा ने स्वयं अपनी शरण में लिया है। उनको जन्म देने वाली माता धन्य है, उनका संसार में जन्म लेना सफल है ॥२॥ हे प्रभु, तुम सबके पालनहार, अगम, अपार और अनंत हो। जिन्होंने तुम्हारे वास्तविक रूप को पहचान लिया है, मैं उनके पाँव चूमता हूँ ॥३॥ हे हरि! मुझे तुम्हारी शरण दरकार है, तुम क्षमाशील हो। हे दाता, तुम शेख फरीद को अपनी बंदगी (भक्ति) की भिक्षा (खैर) दो ॥४॥१॥

॥आसा॥ बोलै शेख फरीदु पिआरे अलह लगे ॥  
 इहु तनु होसी खाक निमाणी गोर घरे ॥१॥  
 आजु मिलावा शेख फरीद टाकिम कूजड़ीआ मनहु  
 मचिंदड़ीआ ॥१॥ रहाउ ॥  
 जे जाणा मरि जाईए घुमि न आईए ॥  
 झूठी दुनीआ लगि न आपु वजाईए ॥ २ ॥  
 बोलीए सचु धरमु झूठु न बोलीए ॥  
 जो गुरु दसै वाट मुरीदा जोलीए ॥ ३ ॥  
 छैल लम्बदे पारि गोरी मनु धीरिआ ॥  
 कंचन वन्ने पासे कलवति चीरिआ ॥ ४ ॥  
 शेख हैयाती जगि न कोई थिरु रहिआ ॥  
 जिसु आसणि हम बैठे केते बैसि गइआ ॥ ५ ॥  
 कतिक कूजों चेति डउ सावणि बिजुलीआँ ॥  
 सीआले सोहंदीआँ पिर गलि बाहड़ीआँ ॥ ६ ॥  
 चले चलणहार विचारा लेइ मनो ॥  
 गढेदिआँ छिअ माह तुड़दिआ हिकु खिनो ॥ ७ ॥  
 जिमी पुछे असमान फरीदा खेवट किनि गए ॥  
 जालण गोरों नालि उलामे जीअ सहे ॥ ८ ॥ २ ॥

शेख फरीद कहते हैं, (ऐ जीवो!) प्रभु की शरण ग्रहण करो। (एक समय तो) यह शरीर मिट्टी हो जाएगा और कब्र में रहेगा (अर्थात् शरीर का कोई महत्त्व नहीं, यह तो मिट्टी है) ॥ १ ॥ (आज यदि तुम) मन को चंचल करने वाली इंद्रियों (कूजड़ियों) को वश में कर सको तो (इसी जन्म में) प्रभु से मिलन संभव है ॥ १ ॥ रहाउ ॥ जब यह मालूम है कि आखिर में मरना है और फिर लौटकर नहीं आना है, तो इस झूठे संसार में लिप्त होकर अपना भावी क्यों खराब करते हो ॥ २ ॥ सत्य बोलना धर्म है, झूठ नहीं बोलना चाहिए। जो मार्ग गुरु ने बताया है, शिष्य को उसी पर चलना चाहिए ॥ ३ ॥ युवकों (संत रूपी) को भवसागर से पार होते देखकर युवती (दुनिया-धंधे में पड़ी आत्मा) मन को धैर्य देती है (विचारती है कि वह भी उसी पथ पर चलेगी)। (परमात्मा से विमुख) लोगों के मायावी (सोने के) फंदों को आरे से चीरा जाएगा ॥४॥ ऐ शेख, संसार में किसी का जीवन स्थिर नहीं। जिस आसन पर हम बैठे हैं, इस पर (पहले भी) कितने ही बैठे होंगे ॥५॥ कार्तिक के महीने में कूजों का उड़ना, चैत्र मास में दावाग्नि, सावन में बिजलियों का चमकना और शीतकाल में प्रियतम के गले में बाँहें डालकर सोना शोभा देता है ॥६॥ चले जाने वाले, (धीरे-धीरे) चले जा रहे हैं। ज़रा विचारो तो सही कि जिसे बनाने में छह महीने लगते हैं, उसे ही तोड़ने में क्षण-भर लगता है ॥७॥ हे फरीद, ज़मीन आकाश से पूछती है कि वे कर्णधार (नेता) कहाँ गये? (आकाश उत्तर देता है) उनके शरीर कब्रों में सड़ रहे हैं, दुःख सहते हैं ॥८॥२॥ (यहाँ कवि ने पृथ्वी-आकाश को साक्षी बनाया है।)

## क्या केसरिया पलटन लौटेगी?

■ सुभाष गाताडे

*“भाजपा जल्द ही अपनी पुरानी रौनक में लौटेगी,  
‘शव’ से ‘शिव’ की तरह उसका यह रूपान्तरण होगा।”*

—मोहन भागवत, संघ के सुप्रीमो दिल्ली में अपने संवाददाता सम्मेलन में

आधुनिक जमाने के जनतंत्र की यात्रा में ऐसे मौके कम ही आते हैं जब कोई सियासी पार्टी धीमी गति से चलने वाली फिल्म की तरह अन्तःस्फोट का शिकार होती दिखती है। भारतीय जनता पार्टी, जो महज कुछ माह पहले अपने आप को सत्ता पाने की प्रबल दावेदार कह रही थी, फिलवक्त ऐसे ही दौर से गुजरती दिख रही है। दिल्ली में काबिज होने की कोशिश में उसे लगातार दो बार जिस तरह मुंह की खानी पड़ी है — चाहे वर्ष 2004 का चुनाव रहा हो या 2009 का — तथा पार्टी के अन्दर जो गुटबाजी चरम पर दिखती है, इनके चलते अपने आप को ‘अलग ढंग की पार्टी’ होने के उसके तमाम दावे काफूर होते दिख रहे हैं।

अपने 29 साला इतिहास में उसके सामने खड़े इस अभूतपूर्व किस्म के संकट का ही नतीजा था कि पिछले दिनों उसके मातृसंगठन — राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ — के अग्रणी नेताओं ने हस्तक्षेप करके मामलों को सुलझाने की कोशिश की। अपने आप को हमेशा अपने आनुषंगिक संगठनों का सलाहकार होने का दावा करने वाले संघ के नेताओं ने जो फॉर्मूला पेश किया है, उसके अन्तर्गत भाजपा में नयी पीढ़ी के हाथों में नेतृत्व को सौंपा जाएगा, जिसके लिए पहले आडवाणी तथा राजनाथ की ‘सम्मानजनक’ विदाई होगी। आडवाणी की वरिष्ठता का ध्यान रखते हुए उन्हें कहा जा रहा है कि नेतृत्व के इस पीढ़ीगत संक्रमण को वह सुगम बनाएं।

इसे संघ के हस्तक्षेप का नतीजा कहें या पार्टी के नेतृत्व में आ रही परिपक्वता का परिणाम मानें कि इन दिनों विभिन्न खेमों, गुटों ने अपनी-अपनी तलवारें म्यान की हैं और अपनी

एकता का चित्र पेश कर रहे हैं। लेकिन भाजपा के हाल के इतिहास पर बारीकी से नज़र रखने वाले आसानी से बता सकते हैं कि आपसी सद्भाव प्रदर्शन का दौर अधिक नहीं चलने वाला है। स्पष्ट है कि वाजपेयी-आडवाणी के नेपथ्य में जाने के साथ ही अब तक दूसरी कतार में रहे नेताओं में से कोई भी पार्टी में पद पाने के संघर्ष में पीछे नहीं रहना चाहता।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसी पार्टी का क्या भविष्य है? क्या वह ‘राख’ से उठ सकेगी तथा जल्द ही ‘शव’ से ‘शिव’ की स्थिति में पहुंचेगी जैसा कि संघ के नवनियुक्त सुप्रीमो मोहन भागवत ने दावा किया था या वह भारतीय जनसंघ की स्थापना के दिनों की गति को नए सिरे से प्राप्त कर लेगी, जब वह सियासत में हाशिये पर पड़ी थी !

निश्चित ही जब तक हम उसकी दुर्दशा में अन्तर्निहित कारणों की पड़ताल नहीं करते, विकसित होती स्थिति का यथार्थपरक आकलन करना हमारे लिए असम्भव है।

एक साधारण व्यक्ति भी बता सकता है कि भाजपा के संकट की जड़ें काफी गहरी हैं और बहुविध हैं। यह जुदा बात है कि अधिकतर विश्लेषकों ने पार्टी को चुनावों में मिली शिकस्त या दूसरी कतार के नेताओं में शुरू ‘खुल्ला खेल फरूखाबादी’ पर अब तक अपने आप को केन्द्रित किया है। अगर पीछे मुड़ कर देखें तो यह अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि पार्टी इतनी दुर्दशा की स्थिति में नहीं पहुंचती अगर पार्टी का नेतृत्व तथा उसके द्वारा चुनावों में प्रधानमंत्री पद के लिए प्रस्तुत लालकृष्ण आडवाणी, इन्होंने गहरी आत्मालोचना करने का साहस दिखाया होता या हार के लिए नैतिक जिम्मेदारी लेते हुए इस्तीफा दिया

होता! गौरतलब था कि पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व पर — जिसने समूचे चुनावी अभियान की अगुआई की थी — कोई आंच नहीं आयी, बल्कि उसमें शामिल कइयों को विभिन्न पदों से नवाजा भी गया; जबकि राज्य स्तर के नेतृत्व को पार्टी की दुर्दशा के लिए दण्डित किया जाने लगा। विधायकों के बीच बहुमत होते हुए भी जिस तरह उत्तराखण्ड के मुख्यमंत्री मेजर जनरल भुवनचन्द्र खंडूड़ी को पद छोड़ने के लिए मजबूर किया गया, वह सबके सामने था। इन दिनों केन्द्रीय नेतृत्व राजस्थान की पूर्व मुख्यमंत्री रही 'वसुन्धरा राजे' पर दबाव डालने लगा है कि वह भी हार की जिम्मेदारी मानते हुए इस्तीफा दे दें।

लोकसभा के लिए सम्पन्न चुनाव के नतीजों का विश्लेषण करते हुए ठीक ही कहा गया था कि किस तरह लगातार उसके वोटों के प्रतिशत में गिरावट आ रही है तथा वह नयी सामाजिक शक्तियों को — खासकर युवाओं तथा मध्यम वर्ग को — अपनी तरफ आकर्षित करने में पिछड़ती दिख रही है। इस बात को भी नोट किया गया था कि वह अन्य राजनीतिक शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने लायक एजेण्डा पेश करने में भी असफल रही है।

अगर हम इस स्थिति को समझने की कोशिश करें तो यही दिखता है कि इसका ताल्लुक पार्टी की इस व्यापक असफलता से है जिसके अन्तर्गत उसके पास अधिक समावेशी, अधिक अग्रगामी तथा समय के बदलते मिजाज के अनुकूल विजन/भविष्यदृष्टि का अभाव है। अपने अतीत को ठीक करने के नाम पर वर्तमान को आपसी कलह से आप्लावित कर देने का उसका कार्यक्रम अब लोगों को आकर्षित नहीं कर रहा है। संघ जैसे अपारदर्शी संगठन से अपने रिश्तों को परिभाषित करने में आनाकानी करना भी भाजपा के लिए महंगा सौदा साबित हुआ है।

मालूम हो कि लॉर्ड मेघनाद देसाई, अमर्त्य सेन जैसे विद्वानों, अकादमिशियनों ने अपने लेखन में इस उम्मीद को जाहिर किया है कि भाजपा अगर अपना एकांतिक किस्म का एजेण्डा छोड़ दे, संघ से अपने वजूद को स्वतंत्र करे तो वह अपने आप को यूरोप की दक्षिणपंथी पार्टियों की शक्ति में ढाल सकती है, जो भारतीय जनतंत्र के भविष्य के लिए हितकर हो सकता है।

भाजपा के अन्दर भी जारी मंथन में या आपसी विवादों में हमें इस विचार की झलक दिख सकती है। पार्टी के अन्दर मौजूद मॉडरेट तबके का मानना रहा है कि पार्टी को चाहिए कि वह 'विचारधारात्मक मुद्दों' से जो 'विघटनकारी और विभाजक' दिखते हैं उनसे अपने आप को अलग करे, और अपने आप को ऐसे मुद्दों पर केन्द्रित करे जो युवाओं तथा मध्यम वर्ग को आकर्षित करे। उनका जोर रहा है कि भाजपा आधुनिकता को अपनाये, वह व्यापक गठजोड़ों को कायम करने की स्थिति में आए और पहचान की राजनीति से तौबा करे। निश्चित ही यह धारा हमेशा कमजोर रही है और अब बदलते परिदृश्य में उसके और कमजोर होने की सम्भावना है।

दूसरा तबका, जो अब अधिकाधिक हावी होता दिखता है, उसका हमेशा मानना रहा है कि संघ के साथ अपने नाभिनाल सम्बन्ध बना कर रखे जाएं, पार्टी के रोजमर्रा के संचालन में संघ का दखल बढ़े, तथा पार्टी हिन्दू हितों के लिए समर्पित हिन्दू पार्टी बने, भले ही चुनावी गणित के हिसाब से यह मामला उल्टा पड़ता दिखे।

पहचान की राजनीति के सवाल पर पार्टी के अन्दर मौजूद तनाव के अलावा तनाव का एक अन्य स्तर भी है जिसका ताल्लुक अर्थव्यवस्था की दिशा से है। दिलचस्प है कि संघ के प्रति अपनी वफादारी का दिन रात इजहार करने वाले पार्टी के बहुमत के लिए नवउदारवादी सुधारों को अपनाएने से कोई गुरेज नहीं था, जबकि पार्टी का अल्पमत संघ द्वारा प्रतिपादित स्वदेशी की हिमायत कर रहा था।

नये लोगों, मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने में भाजपा की असफलता का एक कम चर्चित पहलू रहा है उसकी अगुआई में केन्द्र में चला — छह साला शासन ( 1998-2004) जिसमें वह शासन, पारदर्शिता एवं जवाबदेही के मामले में कांग्रेस जितनी ही खराब या कभी-कभी उससे अधिक कमजोर नज़र आयी है। उसके अपने विचारों एवं व्यवहार में व्याप्त गहरे अन्तराल का भी इस दौर में भण्डाफोड़ हुआ जब उसके कई नेता खोजी पत्रकारों द्वारा संचालित स्टिंग आपरेशन में घूस लेते पकड़े गए। पार्टी के पूर्व अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण तो बाकायदा कैमरे के सामने यह कहते सुने गए कि 'अगली बार डॉलर लेकर आना।'

यह बात समझने में लोगों को अधिक वक्त नहीं लगा कि अपनी किशोरावस्था से संघ के कार्यकर्ता रहे ये लोग — जो संगठन अपने आप को चरित्र निर्माण के लिए प्रतिबद्ध कहता है — आखिर किस किस के चरित्र के वाहक हैं। इतना ही नहीं संघ के आजीवन प्रचारक रहे कई लोग भी अपने रिश्तेदारों के लिए पेट्रोल पम्प का आवण्टन करते, संस्था के नाम पर जमीन का प्लॉट लेते नज़र आए। संघ के एक शीर्षस्थ नेता पर तो संगठन के अन्दर के विरोधियों ने ही ऐसी सीडी तैयार कर दी जिसमें वह किसी गैर महिला के साथ आपत्तिजनक अवस्था में देखे गए।

यह सोचने का मसला है कि इन तमाम तथ्यों से हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

कुछ बातें बिल्कुल साफ हैं जहां तक पार्टी के भविष्य का सवाल है :

पार्टी के अन्दर वास्तविक जनतांत्रिक प्रणाली की अनुपस्थिति ने और जटिल मामलों को सुलझाने में संघ पर उसकी निरन्तर निर्भरता ने उसे एक ऐसी स्थिति में ला खड़ा किया है कि पार्टी के संचालन में संघ का हस्तक्षेप बढ़ता ही जाएगा। पार्टी के महत्वपूर्ण पदों पर संघ के प्रचारकों की उपस्थिति, जिनकी जनता के प्रति कोई जवाबदेही नहीं हो तथा देश एवं दुनिया के बारे में उनकी 'जुरासिक पार्क' जैसी मानसिकता पार्टी के संकट को और गहरा सकती है।

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है पार्टी पर संघ का अधिकाधिक नियंत्रण, पार्टी के अन्दर के मॉडरेट आवाज़ों को अधिकाधिक हाशिये पर डाल देगा। चाहे 2004 के लोकसभा चुनावों में भाजपा को मिली शिकस्त हो या 2009 के चुनावों में उसे मिली असफलता हो, मातृसंगठन संघ ने यही माना है कि यह हिन्दुत्व के एजेण्डे को कमजोर करने का नतीजा है। साफ है अपने इस मूल एजेण्डे से किसी भी विचलन को वह बर्दाश्त नहीं करेगी।

वाजपेयी एवं आडवाणी के नेपथ्य में जाने के इस दौर में पार्टी के लिए अब हिन्दुत्व की एक खास किसम की छवि पेश करना ही सम्भव होगा। अब उसके पास वह सुविधा नहीं होगी कि वह वाजपेयी के बहाने मॉडरेट आवाज़ों

को आकर्षित करे तथा आडवाणी के नाम पर अधिक हिन्दूवादी तत्वों को साथ जोड़ें। नजदीकी भविष्य में उसकी यह कमजोरी होगी। 1998/1999 के उसके अनुभवों को हमें नहीं भूलना चाहिए जिसमें उसने अपनी मॉडरेट छवि के सहारे तमाम पार्टियों को साथ जोड़ा था।

क्या इन सभी बातों का अर्थ होगा कि पार्टी के लिए अपने पुराने वैभव को हासिल करना बिल्कुल असम्भव होगा और लम्बे समय तक उसे राजनीतिक बियाबान में ही भटकना पड़ेगा?

स्थूल रूप में देखें तो दो ऐसे कारक हैं जो उसकी इस सम्भावित दुर्दशा को रोक सकते हैं। पहले का ताल्लुक नवउदारवादी आर्थिक सुधारों और व्यापक जनता पर उसके पड़ने वाले प्रभावों से है। दूसरा कारक, साम्प्रदायिकता के सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक आधारों की मौजूदगी से है जो अभी तक अक्षुण्ण बने हुए हैं। कांग्रेस के नेतृत्व वाले संग्रम के सामाजिक एजेण्डा और नवउदारवादी आर्थिक सुधारों में अन्तर्निहित अन्तर्विरोध हैं। आज भले ही यह अन्तर्विरोध नियंत्रण में दिखें, लेकिन वह कभी भी तीव्र हो सकते हैं। 'मानवीय चेहरे वाले सुधारों' की संग्रम सरकार की रणनीति तब खतरे में पड़ सकती है और ऐसी परिस्थितियां पैदा हो सकती हैं जो एकांगी किसम की ताकतों के लिए माकूल जमीन तैयार कर सकती हैं।

वर्ष 2004 में भाजपा को शिकस्त देकर सत्ता में आयी और वर्ष 2009 में अपने जीत के सिलसिले को दोहराने वाली कांग्रेस ने कभी भी अपने 'साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष' को सर्वधर्म समभाव के विमर्श से आगे नहीं जाने दिया है। अक्सर यही देखा गया है कि संघ परिवार के उग्र हिन्दुत्व का मुकाबला करने के लिए धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्तों के आधार पर समझौता विहीन संघर्ष करने के बजाय उसने खुद 'नरम हिन्दुत्व' का सहारा लिया है। ऐसी परिस्थितियों में समाज एवं राजनीति के साम्प्रदायिक एवं बहुसंख्यकवादी गठंत/कंस्ट्रक्शन को कभी एजेण्डा पर नहीं लाया जा सका है।

साफ है कि यह ऐसी स्थितियां हैं जो केसरिया पलटन की वापसी का रास्ता सुगम कर सकती हैं।



# बेलगाम हिंसा और मानवाधिकार आंदोलन का ज़मीर

■ अपूर्वानंद

**1 सितंबर :** 31 अगस्त की रात पुरुलिया की अयोध्या पहाड़ियों में नौदुली गांव में तीस हथियारबंद लोग घुसे, गांव वालों को घर से न निकलने का हुक्म पुकार कर सुनाया, फिर वे लतिका हेम्ब्रम के घर में घुसे जहां वह अपने पति गोपाल के साथ सोई थी, राइफल के कुन्दों से लतिका को पीटते हुए उन्होंने धमकी दी कि उसे उन्होंने एक साल पहले ही सी.पी.एम. छोड़ देने को कहा था पर उसने अब तक यह किया नहीं और अगर वह अभी भी यह नहीं करती तो वे उसे जान से मार डालेंगे। लतिका स्त्री है, ग्राम पंचायत की प्रमुख है, पर उसकी उसके पति के साथ जम कर पिटाई की गई। हवा में गोलियां दागते हुए वे दस किलोमीटर दूर एक दूसरे गांव जितिंग्लहर पहुंचे और देबी प्रसाद के घर पहुंचे। देबीप्रसाद के मां-बाप इनके पैरों पर गिर पड़े और अपने बेटे के प्राणों की भीख मांगने लगे। पर उसे ठोकर मार कर जगाया गया और छाती में दो गोलियां मारी गई। देबी प्रसाद की मौत हो गई। देबी प्रसाद सी.पी.एम. का सदस्य था।

**28 अगस्त :** पश्चिम मिदनापुर के बिनपुर गांव में खेत में काम कर रहे मंगल सोरेन को कुछ मोटर साइकिल सवारों ने पुकारा और उसे गोली मार दी। जैसे ही वह गिरने लगा, उन्होंने कुल्हाड़ी से उसे काट डाला। मंगल सी.पी.एम. का सदस्य था।

**28 अगस्त :** रांची से 45 किलोमीटर दूर बुंडू में लगभग पच्चीस माओवादियों ने दिगम्बर महतो के घर को घेर लिया और अंधाधुंध गोलियां चलाने लगे। महतो अन्देशा होने पर अपनी पत्नी के साथ पिछवाड़े से भाग निकला लेकिन उसकी दो बेटियां अंदर सोई रह गईं। महतो ने सोचा कि छोटी बच्चियों पर कोई वार नहीं करेगा। लेकिन महतो के पुलिस के मुखबिर होने के आरोप में उसे सज़ा देने आए दल ने उसकी बारह साल की बेटी रीता कुमारी, मजदूर बुधनी देवी और दो कालेज छात्रों विजय प्रामाणिक और प्रदीप महतो को मार डाला। महतो की छोटी बेटी बच

गई और अपनी ज़िंदगी के लिए अस्पताल में संघर्ष कर रही है।

**27 अगस्त :** लालगढ़ से तीस किलोमीटर दूर सिरसी गांव में करीब छह सौ गांव वालों को एक हथियारबन्द दस्ते ने बन्दूक की नोंक पर जमा किया और उन्हें सी.पी.एम. छोड़ने को कहा। उन सबने नारा लगा कर सहमति दी। फिर उन्हें चार हिस्सों में बांट कर चान्दिलिया, बिनपुर, बेलिया और देउलडांगा गांवों में ले जाया गया जहां उन्होंने सी.पी.एम. के दफ्तरों को ध्वस्त कर दिया।

ये सारी खबरें कोलकाता से प्रकाशित होने वाले दैनिक 'द टेलिग्राफ' से ली गई हैं। इन खबरों की सत्यता पर यह कह कर सवाल उठाया जा सकता है कि अखबार पूंजी के हितों का समर्थक है लेकिन इसी अखबार से हमें सिंगुर, नांदीग्राम, नयाचार, लालगढ़ की खबरें मिलती रही हैं और वे गलत नहीं थीं। पिछले दिनों में हुई इन हत्याओं और अत्याचार के खिलाफ कहां अपील की जा सकती है? क्या कोई मानवाधिकार आयोग, कोई अदालत है जहां इनकी जांच के लिए विशेष दल गठित करने की मांग की जा सके? इन सबके ऊपर यह सवाल है कि यह मांग करे कौन?

शायद उनसे उम्मीद करना गलत न हो जो सिद्धांततः मृत्युदंड के खिलाफ हैं! शायद उन्हें यह कहना चाहिए कि जैसे राज्य को मृत्युदंड देने का अधिकार नहीं है, वैसे ही गैर राजकीय किसी संस्था को, वह राजनैतिक हो या कुछ और, यह हक़ हासिल नहीं! प्रश्न न्याय और नीति, दोनों का है। या क्या इसका उत्तर यह देकर छुट्टी पा ली जाएगी कि राज्य के दमन के चलते ही माओवादियों को बाध्य हो कर यह सब कुछ करने पर मजबूर होना पड़ रहा है? लेकिन माओवादी एकदम मजबूर होकर यह कर रहे हों, इसका कोई सबूत कहीं से नहीं मिला है। लूटमार और कत्तोगारत का एक लम्बा सिलसिला देखा जा रहा है और कभी हमने माओवादियों की ओर से वैसा बयान भी नहीं देखा जो भगत

सिंह के दल ने आतताई अंग्रेज अधिकारी की हत्या करते समय देना ज़रूरी समझा था कि वे मानव रक्त को पवित्र मानते हैं और किसी का खून बहाने पर उन्हें सुकून नहीं मिलता। शायद भगत सिंह का नाम लेना यहां असंगत है!

यह कहा जाना जरूरी है कि अगर सरकार द्वारा लालगढ़ में माओवादी दल विरोधी अभियान के नाम पर स्कूलों को दखल करना गलत है तो हफ्तों तक सरकार विरोधी बन्द के नाम पर भी बच्चों को स्कूल से बाहर रखना उससे कम गलत नहीं है। प्रश्न उनकी पढ़ाई का तो है ही, उनके दोपहर के खाने का भी है, जो स्कूल न जाने पर उन्हें नहीं मिल पा रहा है।

सी.पी.एम. को उसके अपराधों की सज़ा मिल रही है। हर स्तर पर वह सत्ता से बाहर की जा रही है, यह कोई बन्दूक के ज़ोर पर नहीं हो रहा। यह दशकों से गरीबी और पार्टी का जुल्म सहते मामूली लोगों द्वारा एक साधारण मताधिकार का प्रयोग है। इस मत का अपहरण वे लोग नहीं कर सकते जो हथियार के ज़ोर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। झारखंड हो या छत्तीसगढ़ या ओड़ीसा, माओवादी उन जनांदोलनों द्वारा बनाई गई जगह का इस्तेमाल कर रहे हैं, जिन्हें खड़ा करने में उन्होंने पसीना नहीं बहाया है। हथियार के बल पर वर्चस्व कायम करने की यह पुरानी

बोल्शेविक तिकड़म है जिस पर बात करना एक बड़ी जमात में धार्मिक दूषण माना जाता है।

माओवादी सैन्य कार्रवाई का विरोध करने के लिए ठीक उसी सांस में राज्य के आतंक का विरोध करना जो आवश्यक मानते हैं, वे संतुलनवाद के शिकार हैं और वे इस मांग का भी फिर विरोध नहीं कर पाएंगे जो हर राजकीय आतंक के विरोध के समय राज्य उनसे करता है कि आप माओवादी या गैर राजकीय हिंसा का विरोध तुरंत क्यों नहीं कर रहे! संतुलनवाद और तुलनात्मकता वास्तव में नैतिक भीरुता के लक्षण हैं जो गुजरात में मुसलमानों के कल्लेआम की निन्दा बिना गोधरा का नाम लिए नहीं कर पाते, उनकी नैतिक दृढ़ता के बारे में सोचा जाना चाहिए।

किसी भी हत्या का कोई औचित्य नहीं है अगर हम राज्य से यह अपेक्षा करते हैं कि वह संविधान द्वारा तय विधिसम्मत तरीकों से अलग किसी और तरीके से कुछ न करे तो यह हमारे किसी मूल्य निर्णय के चलते होना चाहिए, ना कि किसी फौरी रणनीति फैसले के तहत। जैसा कि पहले कहा गया, हत्या के प्रति हमारा रुख न्याय और नीति की हमारी बुनियादी समझ से और मानवाधिकारों की हर स्थिति में अनुल्लंघनीयता पर हमारे यकीन से भी जुड़ा हुआ है।

तुमने जिस खून को मक़तल में<sup>1</sup> दबाना चाहा आज वह कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है कहीं शोला, कहीं नारा, कहीं पत्थर बनकर खून चलता है तो रुकता नहीं संगीनों से सर उठाता है तो दबता नहीं आइनों<sup>2</sup> से जुल्म की बात ही क्या, जुल्म की औकात<sup>3</sup> ही क्या जुल्म बस जुल्म है आगाज से अंजाम<sup>4</sup> तलक खून फिर खून है, सौ शक्ल बदल सकता है- ऐसी शक्लें कि मिटाओ तो मिटाए न बने ऐसे शोले, कि बुझाओ तो बुझाए न बने ऐसे नारे कि दबाओ तो दबाए न बनें।

—साहिर लुधियानवी

1. कल्ल की जगह; 2. विधान, कानून; 3. महत्व; 4. आरंभ से अन्त तक।



# साइडइफेक्ट के तौर पर जेण्डर समानता!

■ अंजलि सिन्हा

केरल सरकार ने महिलाओं को आबकारी गार्ड के रूप में भर्ती करने का फैसला किया है। अभी तक यह क्षेत्र सिर्फ पुरुषों के लिए खुला था। आबकारी मंत्री पी. के. गुरुदासन ने कहा है कि पहले चरण में 274 महिला गार्डों की भर्ती की जाएगी तथा जल्दी ही इसके लिए विभाग के जिला प्रमुखों की भर्ती करने के लिए निर्देश जारी किया जाएगा। विभाग के सूत्रों के हवाले से मीडिया में खबर आयी कि इससे लैंगिक समानता सुनिश्चित होगी तथा अवैध शराब बनाने और बेचने पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है। प्रशासन इस अवैध व्यवसाय में महिलाओं की भागीदारी का समाधान ढूँढ रहा था। अधिकारियों का कहना है कि जहाँ-जहाँ महिलाएं इसमें शामिल हैं वहाँ सिर्फ पुरुष गार्डों से नियंत्रण पाना सम्भव नहीं है।

ठीक यही वजह महिला पुलिस भर्ती में भी देखी जा सकती है। जब विभिन्न आन्दोलनों में महिलाओं की बढ़-चढ़ कर भागीदारी बनी, कहीं-कहीं महिलाएं खुद आन्दोलन की अगुआई करती दिखीं तो सरकार के लिए यह जरूरी बना कि वह कानून और व्यवस्था बनाये रखने के नाम पर गठित बल में महिलाओं को भी स्थान दे। महिला संगठनों तथा दूसरे अन्य आन्दोलनों के दबाव में और साथ ही जेण्डर के मुद्दे पर बढ़ रही संवेदनशीलता के कारण पुरुष पुलिस द्वारा महिलाओं को गिरफ्तार करना टेढ़ा काम बन गया था। आम लोगों में भी यह जागरूकता बनी थी कि पुरुष पुलिस महिलाओं को हाथ भी नहीं लगा सकती है।

निश्चित ही अपराध जगत के विभिन्न क्षेत्रों में भी महिलाओं की बढ़ती पहुंच से भी सरकार के कान खड़े हुए होंगे। ऐसी महिलाओं पर काबू पाना बिना महिला पुलिस

फोर्स के सम्भव नहीं था।

इसलिए यह तो सही है कि ऐसी नौकरियों में महिलाओं को प्रवेश मिलने से जो क्षेत्र उनके लिए समाज और सरकार ने वर्जित क्षेत्र बना रखा था उसका दरवाजा खुला तथा परिणामस्वरूप जेण्डर भेदभाव को चुनौती भी मिली। औरत सिर्फ 'स्त्री सुलभ' भूमिकाओं के दायरे से बाहर निकली तथा

उसकी स्टीरियोटाइप छवि टूटी।

एक स्तर पर देखें तो ऐसा परिवर्तन सकारात्मक है क्योंकि औरत को श्रम करने तथा विकास करने में बराबर का हक संविधान देता है। लेकिन साथ में यह समझना भी जरूरी है कि सरकारों ने इस तरह के कदम जेण्डर समानता लाने के उद्देश्य से नहीं उठाये हैं। इससे अगर समानता भी आएगी तो वह साइडइफेक्ट की तरह होगी। अन्य क्षेत्र के रोजगारों के दरवाजे भी स्त्रियों के लिए खुले हैं जिसमें काफी हद तक परिस्थितियां जिम्मेदार हैं। जैसे कि उदाहरण के लिए अब महानगरों या नगरों में पेट्रोल पम्पों पर महिला स्टाफ भी आसानी से देखा जा सकता है क्योंकि अब गाड़ी चलाने

वाली या अपना दुपहिया वाहन चलाने वाली महिलाओं की संख्या भी सड़क पर सदृश्य/विजिबल है। दिल्ली ट्रान्सपोर्ट कॉर्पोरेशन ने हाल ही में घोषणा भी की है कि अब बसों में कंडक्टर के पद पर भी धीरे-धीरे महिलाएं नियुक्त की जाएंगी। दुकानों, शॉपिंग मॉल्स जैसे कई कामों में अब महिलाएं भी दिखती हैं। ऐसी नौकरियों में उन्हें मिलती जगह का कारण जानना मुश्किल नहीं है। विगत कुछ दशकों से श्रम के स्त्रीकरण/फेमिनायजोन की परिघटना सामने आयी है जो स्त्री की स्टीरियोटाइप भूमिका को मजबूत करती है।

यदि परिवार में बच्चा पालने का काम पुरुष भी बराबरी से करता होता तो शायद प्राइवेट स्कूलों में महिलाओं के शिक्षिका बनने के साथ वे भी उतनी ही तादाद में शिक्षक बनते। लेकिन यह काम ऐसा है कि साथ में घर के अपने बच्चे भी पल जाते हैं और नौकरी भी चल जाती है।

आज मध्यम और निम्न मध्यम वर्गीय महिलायें घर के अन्दर के श्रम के अलावा अपनी सामाजिक और आर्थिक पहचान बनाने के लिए बड़े पैमाने पर सार्वजनिक कार्यस्थलों में प्रवेश कर रही हैं। पिछले एक दशक के अन्दर कॉल सेन्टर, मॉल्स, मीडिया, सूचना प्रौद्योगिकी तथा फाइनेन्स आदि जो क्षेत्र सामने आए हैं उनमें महिला कामगारों की बढ़ती मांग एक परिघटना है। अगर हम देशीय या बहुदेशीय कम्पनियों के नज़रिये से देखें तो श्रम शक्ति के तौर पर महिलाएं अधिक वांछनीय होती हैं क्योंकि ऐतिहासिक तौर पर उन्होंने निम्न या शून्य मजदूरी पर काम किया है और उनके संगठित होने की सम्भावना भी कम होती है। इसलिए वे बिना नौकरी की सुरक्षा के या बिना किसी स्वायत्तता के कम मजदूरी पर भी काम करने को तैयार रहती हैं। यह अकारण नहीं कि भारत, बांग्लादेश से लेकर दक्षिण एशिया के तमाम देशों में महिलाएं उन कामों में रोजगार करती दिखती हैं जहां काम के घण्टे की कोई सीमा नहीं है या जहां पर मजदूरी भी कम है।

महिलाओं का घर के बाहर जाकर काम करना परिवार की रहन-सहन के स्तर को बनाये रखने के लिए भी जरूरी होता है तथा यह इस बात का भी परिचायक है कि महिलाओं के अन्दर एक नयी जागृति भी आयी है और न वे अपने आप को चूल्हा चौका तक सीमित रखना चाहती हैं साथ ही साथ अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उनके पहुंचने पर स्वीकार्यता भी बढ़ी है।

पूरे आर्थिक जगत पर हम गौर करें तो कृषि और उत्पादन के अलावा सेवा का बड़ा क्षेत्र उभरा है, जिसका अर्थव्यवस्था में हिस्सा कहीं-कहीं 40 फीसदी तक है। इस सेवा क्षेत्र में महिला कर्मचारियों की बढ़ती उपस्थिति एक जानी हुई परिघटना है। इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में न्यूजरीडर के तौर पर सुन्दर चेहरे वाली महिला को जगह मिलती है और

प्रिन्ट मीडिया में उन्हें कुकिंग, बच्चे, फैशन या ऐसे ही हल्के फुल्के क्षेत्रों को कवर करने के लिए रखा जाता है।

अमेरिका जैसे विकसित मुल्कों को देखें तो पता चलता है कि वहां औद्योगिकीकरण ने जब सेवा क्षेत्र को जन्म दिया तो नये किस्म के तमाम रोजगारों का सृजन हुआ। अकेले पुरुषों के बल पर इन्हें अंजाम देना सम्भव भी नहीं था। पहले क्लर्क के कामों को पुरुषों का एकाधिकार समझा जाता था, लेकिन जैसे-जैसे महिलाओं ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया, क्लर्क के पेशे का भी स्त्रीकरण हुआ। नयी टेक्नोलोजिकल लहर ने विस्तारित होते रोजगार को भरने के लिए निगमों को लोगों की आवश्यकता थी। टाईपराइटिंग के काम का स्त्रीकरण होने में अधिक वक्त नहीं लगा।

कनाडा जहां विगत तीस-चालीस वर्षों में श्रमशक्ति में महिलाओं की भागीदारी तेजी से बढ़ी है वहां श्रम के स्त्रीकरण की परिघटना कई स्तरों पर दिखती है। मसलन, परिचारिकाओं/नर्सस, अध्यापन, क्लर्क और सेवा तथा बिक्री के क्षेत्र में 70 फीसदी से अधिक महिलाएं काम करती दिखती हैं जबकि पुरुषों की संख्या महज तीस फीसदी है। दूसरे नॉनस्टैंडर्ड कामों में, अस्थायी कामों में या पार्टटाईम कामों में महिलाएं पुरुषों की तुलना में अधिक दिखती हैं। इसका असर सामाजिक सुरक्षा और अन्य लाभों पर दिखाई देता है जिसके चलते पुरुषों की तुलना में महिलाओं को ऐसे लाभ कम मिल पाते हैं। इसे दोहराने की जरूरत नहीं कि यह सब विकसित देशों में इसी वजह से चलता रहता है क्योंकि बच्चों के लालनपालन तथा परिवार की जिम्मेदारी में स्त्री-पुरुषों के बीच की असमानता को खत्म नहीं किया जा सका है।

प्रश्न उठता है कि क्या 'साइडइफेक्ट के तौर पर आ रही इस जेण्डर समानता' का विरोध किया जाए या वास्तविक जेण्डर समानता लाने के लिए इस अवसर का उपयोग किया जाए? अब समय आ गया है कि स्त्री मुक्ति के लिए सक्रिय लोग इस मसले पर अपनी समझदारी बना लें।

*(लेखिका स्त्री अधिकार संगठन की कार्यकर्ती हैं तथा सत्यवती कालेज (सांध्य) में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं।)*

# दायित्वबोध का एहसास कराएगा पितृत्व अवकाश

■ अंजलि सिन्हा

दिल्ली के एक निजी स्कूल के शिक्षक ने पितृत्व अवकाश की अपनी कानूनी लड़ाई जीत ली है। इस अध्यापक ने जनवरी में अपने स्कूल से 15 दिन का पितृत्व अवकाश लिया। छुट्टी से काम पर लौटने के बाद पता चला कि उसका 15 दिन का वेतन काट लिया गया है। स्कूल प्रशासन ने पितृत्व अवकाश देने से मना कर दिया था। इस मामले को जाने-माने वकील तथा सामाजिक कार्यकर्ता अशोक अग्रवाल ने कोर्ट के समक्ष जवाब पेश कर याचिका को जनहित याचिका में बदलने की पेशकश की। उन्होंने सुप्रीम कोर्ट का हवाला दिया है जिसमें किसी याचिका को जनहित याचिका बनाया जा सकता है।

यू तो सरकारी कर्मचारियों तथा शिक्षकों को यह हक पहले से प्राप्त है। यह अलग बात है कि आम तौर पर पुरुष इस छुट्टी के लिए आवेदन नहीं करते हैं। मगर निजी स्कूलों/संस्थानों में इसे देने में आनाकानी करते हैं। बाद में कोर्ट ने दिल्ली सरकार से भी इस सम्बन्ध में शिक्षकों की स्थिति स्पष्ट करने को कहा। दिल्ली सरकार ने हलफनामा दायर कर स्पष्ट किया कि निजी स्कूलों के शिक्षकों को भी पितृत्व अवकाश मिलेगा। मालूम हो कि सन 1997 में केन्द्र सरकार ने 15 दिन के पितृत्व अवकाश की घोषणा की थी। बाद में दिल्ली सरकार ने भी इसे स्वीकार करते हुए मान्यताप्राप्त गैरसरकारी स्कूलों के अध्यापकों को भी इसका लाभ देने की बात कही थी।

इस फैसले से ताकत पाकर बेहतर होगा कि आने वाले समय में सरकारी नौकरियों के साथ अन्य सभी निजी नौकरियों में कार्यरत पुरुष जब पिता बनने वाले हों तो इस छुट्टी के लिए अपने-अपने संस्थान में आवेदन करें और परिवार के अन्दर इस जवाबदेही को निभायें।

मातृत्व और पितृत्व अवकाश की सुविधा को लेकर लोगों में यह भ्रम हो सकता है कि सरकारें, प्रशासन और कुछ निजी संस्थान भी महिलाओं के पक्ष में और पुरुषों के विरोध में सोचते हैं। निश्चित ही ऐसा सोचने के ठोस कारण भी दिख सकते हैं। मातृत्व अवकाश, जो पहले तीन महीने था उसे 6 माह करने का प्रस्ताव आया, फिर 2 साल की छुट्टी की सुविधा माताओं को मिली जो कि वे अपने बच्चों के 18 साल का होने तक कभी भी - बच्चे के जरूरत के हिसाब से - ले सकती हैं। लेकिन पितृत्व अवकाश 15 दिन ही रहा और वह भी आसानी से नहीं मिलता है और न ही अधिकांश पिता उसकी मांग करते हैं।

गत वर्ष जब गृह मन्त्रालय ने महिलाओं के लिये ढाई साल

के मातृत्व अवकाश को मंजूरी दी तो मीडिया ने उसे प्रोवुमन/महिला पक्षी कदम बताया था। लोगों ने कहा और लिखा कि आजकल के एकल परिवारों में जहां पति-पत्नी दोनों नौकरी पर जाते हों वहां बच्चे बेचारे उपेक्षित रह जाते हैं। साथ ही सरकार ने यह कहा कि ऐसी सुविधा वह इसलिए दे रही है ताकि महिलाएं बच्चों की जिम्मेदारी के कारण अपनी नौकरी न छोड़ें और समाज उनके अनुभव का लाभ उठा सके। हो सकता है इन बातों में कुछ सच्चाई भी हो लेकिन यदि किसी साधारण समझ के इन्सान से भी हम समझना चाहें तो जान सकते हैं कि आज के उदारवाद और निजीकरण के जमाने में जहां परफार्मेंस ही नौकरी में बने रहने का मूल तत्व हो और प्रतियोगी माहौल सर्वत्र व्याप्त हो उसमें ढाई साल तक भले एक साथ नहीं टुकड़े-टुकड़े में ही छुट्टी ली गयी हो वह कार्यक्षेत्र से बाहर रहेगी तो क्या वह अच्छा नतीजा दे पाएगी ? और यह सुविधा दो बच्चों तक मिलेगी यानि अपने सेवाकाल में महिला पांच साल तक छुट्टी लेकर बाहर रह सकती है। ऐसे फैसले औरत को घर तक समेटने का कुचक्र बनते हैं।

यह समझने की जरूरत है कि सर्वप्रथम यह पिताओं का अधिकार है कि उन्हें पिता बनने के दौरान अपनी नौकरी से अवकाश मिले। दूसरी बात कि पिता भी बच्चों की उन सारी जिम्मेदारियों को उठायेंगे जो सिर्फ मांओं या परिवार के अन्य महिलाओं को निभानी होती है - जैसे बच्चे की साफ-सफाई, ऊपर का आहार तैयार करना, बीमार होने पर रात भर गोद में लेकर बैठे रहना आदि विभिन्न काम होते हैं।

दरअसल सहयोग की जरूरत पहले भी होती थी किन्तु अब यह ज्यादा जरूरी हो गया है क्योंकि एक तो महिलाओं के काम का दायरा बढ़ गया है तथा दूसरे पूरा पारिवारिक ढांचा बदल गया है। आम तौर पर घर के अन्दर काम की जिम्मेदारी औरत के पास तथा बाहर के काम की जिम्मेदारी पुरुष के पास होती थी। गैरबराबरी के खिलाफ जंग में औरत ने बाहर के काम पर दावा ठोंका और जहां-जहां अवसर हासिल होता गया वह साबित करती गयी कि वह उस काम को कर सकती है। अब स्वाभाविक ही है कि घर के अन्दर के काम में पुरुष के हिस्सेदारी की मांग बनेगी और देर सबेर पुरुष को यह काम करना होगा अन्यथा यह परिवार में तनाव का कारण भी बनेगा।

यद्यपि मात्र पितृत्व अवकाश से यह चली आ रही परिपाटी

शेष पृष्ठ 15 पर

## संसाधन हस्तांतरण के माध्यम से संघर्ष पर पड़ने वाला सहायता का असर

■ मेरी बी. एण्डरसन

...पिछले अंक से जारी

जब संघर्ष के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय सहायता दी जाती है, तो यह उस संघर्ष पर असर भी डालती है और उससे प्रभावित भी होती है। इस अध्याय में और इसके बाद के दो अध्यायों में हम अनेक उन तरीकों की तहकीकात करेंगे जिनके द्वारा सहायता और संघर्ष रू-ब-रू होते हैं और दिखाते हैं कि सहायता कार्यक्रमों में तय किए गए विकल्प किस तरह इस बात को प्रभावित कर सकते हैं कि संघर्ष पर सहायता के असर अच्छे हैं या बुरे।

अनुभव बताता है कि लोगों की ज़िंदगी बचाने या विकास को अंजाम देने के लिए जो यह करना चाहती है उसे करने में सफल रहने के बावजूद सहायता अक्सर संघर्षों में घी का काम करती है, उन्हें दोबारा मजबूती प्रदान करती है और उन्हें लंबे समय तक चलते रहने में मदद करती है। सहायता दाता कर्मचारी बार-बार बताते हैं कि किस तरह उनके द्वारा दी जाने वाली सहायता को स्थानीय राजनीति तोड़-मरोड़ कर पेश करती है और किस तरह योद्धा इसको हड़प कर इसका इस्तेमाल युद्ध में करने लगते हैं। युद्ध के शिकार लोग अनेक बार दोहराते हैं कि सहायता दरअसल युद्ध सरगनाओं को अमीर और “दुश्मन” को शक्तिशाली बना रही है। सहायता की व्यवस्थाएं और वे तरीके जिनसे सहायता दाता कर्मचारी संघर्ष से रू-ब-रू होते हैं बार-बार युद्ध में शामिल पक्षों के तौर-तरीकों और मानसिक स्थितियों को हावी बना देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि युद्ध की तरफ़ दिलचस्पी न दिखाने वाले समाज के नज़रिए कमज़ोर पड़ जाते हैं।

आखिर ऐसा क्यों होता है कि भलाई करने की मंशा रखने के बावजूद अंत में सहायता बुराई करती ही नज़र आती है। क्या यह ज़रूरी है कि यह ऐसा ही करे? इन सवालियों के जवाब सहायता संबंधी पिछले अनुभवों में ढूँढे जा सकते हैं। दुनिया भर में फ़ैले अनेक संघर्ष प्रभावित इलाकों से सहायता के नुकसानदेह असर के दिए गए उदाहरणों से स्पष्ट व अनुकूल नमूने उभरते हैं। हालांकि पहली नज़र में हर एक उदाहरण ख़ास और बेजोड़ लगता है, मानो ख़ास स्थानीय परिस्थितियों द्वारा पैदा किया गया और गढ़ा गया हो। लेकिन सभी अनुभवों को एक

साथ देखने पर महत्वपूर्ण एकरूपताएं नज़र आती हैं।

नकारात्मक उदाहरणों के बार-बार दोहराए जाने से हम हतोत्साहित होने के बजाय उत्साहित होते हैं, क्योंकि नमूनों की उपस्थिति यह भविष्यवाणी करना संभव कर देती है कि चीज़ें किस तरह ग़लत हो सकती हैं। और अगर नकारात्मक नमूनों की भविष्यवाणी करने के लिए हमारी समझ पुख़्ता है और हमारे पास जानकारियां भी पुख़्ता हैं तो कार्यक्रम संबंधी ऐसे विकल्प भी मिलना संभव हैं जो नकारात्मक नमूनों से बच सकें। सहायता संबंधी पिछले अनुभव से ली गई सीख से हम पूरी तरह से आश्वस्त हैं कि यह अवश्यभावी नहीं है कि सहायता युद्ध को ज़्यादा उग्र बनाती है। इसके अलावा जैसा कि अध्याय तीन में की गई विवेचना इशारा करती है, जिस नमूने में सहायता और संघर्ष रू-ब-रू होते हैं, उसकी बेहतर समझ ऐसे सहायता कार्यक्रम तैयार करना संभव बनाती है जो शांति के लिए स्थानीय क्षमताओं से जुड़े और उनका समर्थन करें।

आगे चलाई गई चर्चा में हमने उदाहरण देकर उन नमूनों को पहचाना है जिनके द्वारा सहायता अनजाने संघर्ष को बढ़ावा देती है। इस समस्या से बचने के जो भी उपाय हमने सीखे हैं उसकी भी चर्चा की गई है। हमने इस पर भी ध्यान दिया है कि किस तरह सहायता को कुछ ऐसा रूप दिया जाए कि यह शांति के लिए स्थानीय क्षमताओं का निर्माण करें और उनका समर्थन करें।

हमारा मक़सद पिछली ग़लतियों के लिए सहायता दाताओं को ज़लील करना नहीं है। ना ही हमारा मक़सद इस पर ज़ोर देना है कि मानवीय एवं विकास संबंधी सहायता एजेंसियां शांति स्थापित करने संबंधी अतिरिक्त आदेश का बोझा उठाएं। बल्कि हमारा मक़सद तो जागरूक सहायता कर्मचारियों को इस लायक बनाना है कि पहले जो कुछ भी उन्होंने सीखा है उसका इस्तेमाल करें ताकि वे भावी जटिल परिस्थितियों में प्रभावी ढंग से काम कर सकें। मानवीय एवं विकास सहायता संबंधी आदेश बदले नहीं जाने चाहिए। लेकिन जो कुछ सीखा गया है उसके आधार पर इस तरह से काम करना ज़रूरी या न्यायोचित नहीं है कि मानो संघर्षों पर पड़ने वाले अच्छे या बुरे प्रभावों के लिए सहायता की कोई ज़िम्मेदारी न हो। मानवीय एवं विकास संबंधी

आदेशों का पालन करते समय सहायता दाता कर्मचारियों को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उनके ही द्वारा दी जा रही सहायता किसी तरह का नुकसान न पहुंचाए। और यह भी कि संसाधन के हस्तांतरण के प्रत्यक्ष व परोक्ष असर के द्वारा और अपने अंतर्निहित नैतिक संदेशों के माध्यम से सहायता संघर्ष को बढ़ाती है या शांति के लिए स्थानीय क्षमताओं को मजबूत करती है।

चूंकि सहायता वाले संसाधन आर्थिक सम्पत्ति और राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं इसलिए युद्धरत लोग हमेशा ही इन संसाधनों पर कब्जा जमाना चाहेंगे। अगर वे ऐसा नहीं करते हैं तो यह अटपटा लगेगा, यहां तक कि उनके लक्ष्य को पूरा नहीं होने देगा। इसलिए सहायता दाताओं द्वारा यह अपेक्षा करना बचकानापन होगा कि युद्ध सरगना इस मानवीय सिद्धांत से पूरी तरह सहमत हो जाएंगे कि किसी संघर्ष के शिकार हुए सभी पक्षों के लोगों का सहायता पर समान अधिकार होता है। जब “दुश्मन” मानवीय आधार पर दी गई सहायता समेत किसी भी तरह की सहायता प्राप्त करता है तो इसे चाही जा रही जीत के खिलाफ माना जाता है। उदाहरण के तौर पर, वियतनाम युद्ध के दौरान जब अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम को समुद्र के रास्ते भेजी जा रही सहायता पर पाबंदी लगा दी तब उन अमेरिकी गैर-सरकारी संगठनों को, जो संघर्ष के दोनों ही पक्षों के बीच सक्रिय रहना चाहते थे, तब उन्हें कनाडा से चीजें खरीद कर वहीं से जहाज़ द्वारा भेजनी पड़ीं ताकि उन्हें उस अमेरिकी सरकारी क़ानून का शिकार न होना पड़े, जिसके तहत दुश्मन के साथ व्यापार करने की मनाही है।

अनुभव बताते हैं कि सहायता के आर्थिक और राजनीतिक संसाधन संघर्ष को निम्न पांच संभावित तरीकों से प्रभावित करते हैं---

1. सहायता संसाधन अकसर सैनिकों द्वारा चुरा लिए जाते हैं और इनका इस्तेमाल सेनाओं की मदद करने और हथियार खरीदने में किया जाता है।
2. सहायता युद्ध की अर्थव्यवस्था या फिर शांति की अर्थव्यवस्था पर ज़ोर डालकर बाज़ार को प्रभावित करती है।
3. सहायता के वितरण संबंधी प्रभाव तनावों को बढ़ाकर या फिर जुड़ावों पर ज़ोर डाल कर अंतर्समूह रिश्तों पर असर डालते हैं।
4. सहायता नागरिकों की ज़रूरतों को पूरा करने वाले स्थानीय संसाधनों की जगह ले लेती है और इस तरह उन्हें संघर्ष को समर्थन देने की पूरी छूट दे देती है।
5. सहायता लोगों को और युद्ध या शांति की दिशा में चलाई जा रही उनकी गतिविधियों या एजेंडों को क़ानूनी जामा पहना देती है।

**चोरी** : योद्धा अकसर सहायता के रूप में दिए जा रहे माल को चुरा लेते हैं और उसका उपयोग अपने युद्ध संबंधी प्रयासों को वित्तीय मदद पहुंचाने में करते हैं। चुरायी गई खाद्य सामग्री, कंबल, गाड़ियां और संचार के साधनों का इस्तेमाल सेनाओं द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है या फिर इन चीजों को बेचकर ज़रूरत का सामान खरीदा जा सकता है। चोरी सबसे ज़्यादा जानी-पहचानी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सहायता संघर्ष को तेज़ करती है (हालांकि जैसा कि इस अध्याय के बाकी हिस्से में दूसरी प्रक्रियाओं के बारे में चर्चा करके बताया गया है, ज़रूरी नहीं है कि यह प्रक्रिया असर डालने में बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो)।

चोरी को अंजाम देने के लिए चोरों को यह जानकारी होना ज़रूरी है कि कितना माल कहां पर और कब उपलब्ध है या उपलब्ध होगा। उन्हें एक ऐसी जगह की जानकारी की ज़रूरत होती है जहां पर वे माल पर कब्जा कर सकें (कोई तलाशी बिंदु, कोई संकरी सड़क या फिर कोई मालघर)। उन्हें यह जानना भी ज़रूरी होता है कि ऊंची कीमत का इतना माल मिल जाएगा जिससे उनका चोरी करना व्यर्थ नहीं जाए। उन्हें इसका भी पुख्ता इंतज़ाम करना पड़ता है कि माल गायब करते समय वे पकड़े न जाएं जिससे उन्हें चोरी के लिए ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जाएगा। चोरों को जानकारी, मौक़े, प्रलोभन और छूट की ज़रूरत होती है।

#### सहायता बाज़ारों पर असर डालती है

युद्ध अर्थव्यवस्थाओं को बिगाड़ देते हैं। उत्पादन, रोज़गार, व्यापार और सेवाओं के नमूने युद्ध से जुड़ी गतिविधियों और नमूनों का रुख कर लेते हैं। कुछ लोग ज़रूर युद्ध से मालामाल हो जाते हैं लेकिन बहुत लोग ख़स्ताहाल हो जाते हैं। व्यापार से जोड़ने वाले कुछ अनुबंधों को समर्थन दिया जाता है लेकिन दूसरों को तोड़ दिया जाता है।

सहायता युद्ध अर्थव्यवस्था को पुख्ता बना कर और शांतिकाल के उत्पादन और उत्पादकता को कम आंक कर बाज़ार उठापटक को बढ़ाती है। उदाहरण के तौर पर, जब सहायता एजेंसियां अपने माल और अपने कर्मचारियों की सुरक्षा की खातिर स्थानीय नागरिक सेना से सुरक्षाकर्मी भाड़े पर लेती हैं तब उन्हें दिए गए भुगतान सीधे-सीधे संघर्ष की आर्थिक व्यवस्थाओं को मजबूत बनाते हैं। जब सहायता एजेंसियां ऐसे सामानों का आयात करती हैं जो स्थानीय तौर पर निर्मित किए जा सकते हैं और उनको सस्ते दामों में बांटती हैं तो कार्रवाई शांतिकाल के आर्थिक प्रोत्साहनों को कमजोर कर सकती है।

सहायता प्राप्त करने वाले देशों में सहायता अकसर अपने ऐसे “उद्योग धंधे” स्थापित कर लेती है जिनमें मज़दूरी दी जा सकती है और मुनाफ़ा कमाया जा सकता है। सहायता का दौलत के रूप में होने से और कुछ व्यवस्थाओं पर इसके



विश्वास के चलते वे स्थानीय लोग मुनाफ़ा कमा सकते हैं जिनके पास वे संसाधन होते हैं जिनकी ज़रूरत सहायता को पड़ती है। युद्ध वितरण व्यवस्थाओं और उन रास्तों को नष्ट कर देता है जिनकी ज़रूरत ख़तरे में पड़े लोगों तक पहुंचने के लिए सहायता एजेंसियों को पड़ती है। वे व्यक्ति और समूह जो वितरण और पहुंच पर कब्ज़ा जमा लेते हैं वित्तीय और राजनीतिक दोनों ही स्तर पर फ़ायदे में रहते हैं।

डेटन शांति समझौते के फ़ौरन बाद बोसनिया एवं हर्ज़ेगोविना में गोली-बारी में फंसे नागरिकों को आड़े-तिरछे रास्ते तय करते हुए भोजन एवं अन्य राहत सामग्री पहुंचाने वाले वाहन-चालक गाड़ियों का काफ़िला गंतव्य स्थल पहुंच जाने के बाद पैदा होने वाली अनिश्चितताओं को लेकर चिंतित थे। ग़ैर-सरकारी संगठन के वाहनों की संख्या घटा दिए जाने पर हम में से किसको रखा जाएगा और किसी छुट्टी कर दी जाएगी? युद्धकाल के अपने अनुभव का वे कैसा इस्तेमाल करें कि शांति के दौर में उन्हें नौकरियां हासिल हो सकें? एक चालक ने कहा, “युद्ध के दौरान सहायता सामग्री से लदी गाड़ियों के काफ़िले को ले जाना ख़तरे से भरा काम था, लेकिन शांति स्थापित हो जाने से पैदा होने वाले ख़तरों के सामने ये इतना ख़तरनाक नहीं महसूस होता है। मेरी आमदनी पर न केवल मेरा अपना परिवार बल्कि मेरे दादा-दादी, चाचे और उनके बच्चे भी निर्भर हैं। मैं शांति से घबड़ा उठता हूं और दोबारा युद्ध शुरू होने की कामना करने लगता हूं।”

जब सहायता एजेंसियां आती हैं तो दूसरे तरह की सम्पत्ति की भी मांग बढ़ जाती है। प्रवासियों का रेला होटल के कमरों, कार्यालय के लिए जगह, मकानों, भोजन, फर्नीचर और औज़ारों के लिए बोली लगवाने लगता है। जिन लोगों का इन सुविधाओं और सामानों पर नियंत्रण होता है वे युद्ध के कारण बिगड़ते आर्थिक हालात के बावजूद अमीर बन सकते हैं।

#### वितरण-जनित प्रभाव

संघर्षरत इलाकों में सहायता द्वारा फ़ायदे पहुंचाने में किए गए फ़र्क समूहों के बीच में तनाव बढ़ाते हैं। सहायता जब केवल कुछ समूहों को ही दी जाती है और दूसरे समूह इससे वंचित कर दिए जाते हैं तो इन समूहों के बीच प्रतियोगिता शुरू हो जाती है। जब लौट रहे शरणार्थियों को तो सहायता दे दी जाती है लेकिन उन्हें नहीं दी जाती जो युद्ध प्रभावित इलाक़े में युद्ध के दौरान बने रहे थे तो तनाव पैदा हो सकते हैं। जब सहायता एजेंसियां लोगों की ज़रूरतों के हिसाब से उन पर ठप्पा लगा देती हैं और इसी आधार पर सहायता कार्यक्रमों को चलाती हैं तो ऐसा करके वे उप-समूह पहचानों को बढ़ावा देती हैं और अंतर्समूह विरोधों को और ज़्यादा बढ़ाती हैं।

#### विकल्प-जनित प्रभाव

किन्हीं परिस्थितियों में बाहरी सहायता भोजन, पनाह,

सुरक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं संबंधी नागरिक ज़रूरतों के इतने बड़े हिस्से की पूर्ति करती है कि बदले में महत्वपूर्ण स्थानीय संसाधनों का इस्तेमाल युद्ध को जारी रखने में किया जाता है। सहायता को इस तरह बदले में इस्तेमाल करने के आर्थिक असर का राजनीतिक प्रभाव भी पड़ता है। जब बाहरी सहायता एजेंसियां नागरिकों के जीवित बचे रहने की ज़िम्मेदारी उठाती हैं तब युद्ध के सरगना अपनी ज़िम्मेदारियों और उत्तरदायित्वों को महज सैन्य नियंत्रण के रूप में ही देखते हैं। वे केवल सैन्य लक्ष्यों पर ही अपना ध्यान केंद्रित करते हैं और एक लंबे समय तक अपनी भूमिका केवल संसाधनों पर नियंत्रण के रूप में ही देखते हैं (और हिंसा द्वारा इस नियंत्रण को हासिल करने और बनाए रखने में)। जब ऐसा होता है तो आकाश और धरती पर विजय हासिल करने के लिए संघर्ष कर रहे योद्धा नागरिक मामलों में रुचि और दक्षता खो देते हैं और युद्ध के बाद के काल में व्यापक ज़िम्मेदाराना नेतृत्व संभालने में नाक़ाबिल बनते जाते हैं।

#### सहायता लोगों और कार्रवाईयों को वैधता प्रदान करती है

सहायता योद्धाओं की युद्ध करने की ताक़त को बढ़ा सकती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है वो ऐसा या तो चोरी या फिर प्रतिस्थापन असर के माध्यम से कर सकती है। हालांकि इससे भी ज़्यादा आम और महत्वपूर्ण यह सच्चाई है कि घटकों द्वारा नियंत्रित इलाकों में कार्यरत सहायता एजेंसियों को अक़सर सेवाओं के एवज में कर या फीस के रूप में “वैध” भुगतान सत्ताधारियों को करने होते हैं (यानी आयात-निर्यात लाइसेंस, सुरक्षा के लिए किराए के सुरक्षाकर्मी, उधार में गाड़ियों का इस्तेमाल और ऐसी ही अन्य चीज़ें)।

जब वे एक तय भौगोलिक क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित करते हैं तब सेनानायकों का यह अधिकार बनता है कि वे यह अपेक्षा करें कि बाहरी सहायता एजेंसियां उन नियमों और नियंत्रणों का पालन करेंगी जो वे अपने क्षेत्र में लागू करते हैं। सेनानायक सहायता द्वारा दिए जा रहे माल पर कर लगा सकते हैं, शुल्क ले सकते हैं, मुद्रा विनिमय दर तय कर सकते हैं, और वितरण के स्थान और समय पर पाबंदी लगा सकते हैं, क्योंकि वे शासन की भूमिका में हैं। वे इस आय का इस्तेमाल युद्ध को आर्थिक मदद पहुंचाने या फिर अपनी जेबें भरने में कर सकते हैं। सहायता पहुंचाने वाली जगहों का इस्तेमाल करके वे यह तय कर सकते हैं कि लोग कहां रह सकते हैं या नहीं रह सकते हैं और इस तरह उनकी स्वामिभक्ति को नियंत्रित कर सकते हैं या उन्हें उनके इलाकों से जबरन बाहर निकाल सकते हैं।

साथ ही, जब सहायता एजेंसियों को सेना के घटकों से आज्ञा लेनी पड़ती उन लोगों के बीच जाने की जिनके साथ काम करना उनके लिए बहुत ज़रूरी है तो ऐसी स्थिति गुटीय ताक़त और वैधता को दोबारा हावी बना देती है। दक्षिणी सूडान में



कार्यरत कुछ सहायता कर्मचारियों ने रिपोर्ट दी कि सहायता एजेंसियों द्वारा सभी नागरिकों तक समान व बेरोक-टोक पहुंच सुनिश्चित करने के लिए बनाई गई 'ऑपरेशन लाइफलाइन सूडान (ओएलएस)' नामक बातचीत की व्यवस्था उस इलाके में एक "वैध" ताकत बन चुकी है। महत्वाकांक्षी सेनानायकों ने कभी-कभी ओएलएस से बातचीत को ज़रिया बना कर खास लोगों और इलाकों में वैध शासकों के रूप में स्वीकृति हासिल कर ली।

जब सहायता एजेंसियों ने उन सैन्य घटकों से संबंध स्थापित करने में कोताही बरती है जो उन इलाकों पर काबिज हैं जहां ये एजेंसियां काम करती हैं तब इन एजेंसियों को कभी सीधे तो कभी भयानक परिणामों का सामना करना पड़ा है। वे चोरी और धमकी के शिकार बने हैं और कभी-कभी तो सहायता हासिल करने का मन बनाने वालों पर भी आक्रमण हुए हैं।

ये वो संदर्भित राजनीतिक वास्तविकताएं हैं जो सहायता के मानवीय लक्ष्यों को सीमित कर देती हैं। दबाव गंभीर हैं। अनेक युद्ध प्रभावित इलाकों में हमने राहतकर्मियों से पूछा है कि वे योद्धाओं से बातचीत करने या उन्हें मान्यता देने से कैसे बचते हैं। हर एक केस में हमें यही जवाब मिला है—“उनसे बचना असंभव है।”

लाइबेरिया में एक एजेंसी के फील्ड डाइरेक्टर को एक खास अरुचिकर सेनानायक से रू-ब-रू होना पड़ा। उससे बचने या मानवीय सहायता की शर्तों को पूरा करने की मांग करने की बजाय, डाइरेक्टर ने युद्धनायक के साथ मुलाकात की और उसे शांतिपूर्वक समझाया कि मानवीय सहायता का क्या महत्व है और डाइरेक्टर की अपनी एजेंसी दुनिया का दर्द मिटाने के लिए कटिबद्ध है। उसने उस इलाके में काम करने की “अनुमति” मांगी जो मिल गयी। उसने सेनानायक से नियमित मिलने की भी इच्छा ज़ाहिर की ताकि “हम आपको लगातार अवगत कराते रहें कि हम क्या कर रहे हैं” और सेनानायक तैयार हो गया।

जिस सेनानायक को कभी ठग समझा जाता था, हफ्तों बाद वही सेनानायक लोगों की ज़रूरतों के बारे में पूछने लगा। “आप कैसे समझते हैं कि अपौष्टिकता एक समस्या है? आप कैसे समझते हैं कि लोग क्या चाहते हैं?” जैसे-जैसे सहायता कर्मचारी लोगों के साथ काम करने के अपने तरीके बताते रहे वैसे-वैसे पहले केवल हथियारों के माध्यम से ही नियंत्रण में रुचि रखने वाला सेनानायक नागरिक कल्याण की ज़िम्मेदारी वहन करने में रुचि दिखाने लगा। आखिरकार “खुद अपनी आंखों से देखने की खातिर” वह डाइरेक्टर के साथ गांवों में गया और उसने ज़्यादा असरदार नीतियां लागू करनी शुरू कर दीं। हालांकि सहायता एजेंसी के व्यक्ति द्वारा उठाया गया यह कदम और सेनानायक की प्रतिक्रिया, दोनों ही अनोखे थे फिर भी यह इशारा करते हैं कि कुछ खास परिस्थितियों में सहायता दाता कार्यकर्ता अलग-अलग नज़रियों के प्रयोग कर सकते हैं और संभवतया सकारात्मक बदलावों के पक्ष में खड़े हो सकते हैं।

ताजिकिस्तान के दुशान्बे प्रांत की सरकार ने युद्ध के बाद ऐसी नीतियां अपनाई जो उस खातलॉन प्रांत के इलाके के हितों के खिलाफ थीं जिसमें ज़्यादातर लड़ाई हुई थी। सरकार ने अपनी नीतियों की तरफ़दारी प्रांत की स्थिति की जानकारी देकर दी। लेकिन वहां कार्यरत एजेंसियां जानती थीं कि ये जानकारी ग़लत हैं। एक प्रमुख एजेंसी के निदेशक का कहना था कि जब उसने कुछ मंत्रियों को खातलॉन का दौरा कराया तब भीतरी प्रदेश के लोगों को फ़ायदा पहुंचाने के लिए कुछ केंद्रीय नीतियों में फेरबदल किया गया।

ये वे कुछ तरीके हैं जिनके माध्यम से सहायता संसाधन युद्ध को आगे चलाते हैं या ऐसा करने से बचते हैं और कभी-कभी शांति स्थापित करने की स्थानीय क्षमताओं की मदद करते हैं। आगे हम इस बात की पड़ताल कर रहे हैं कि सहायता के अंतर्निहित नैतिक संघर्षों से कैसे रू-ब-रू होते हैं।

## दायित्वबोध का एहसास

पृष्ठ 11 का शेष

नहीं बदलेगी किन्तु वह घर के अन्दर की जिम्मेदारी को सुनिश्चित करने की स्थिति निर्मित करने में मददगार हो सकता है। किसी बच्चे के पालन-पोषण की जिम्मेदारी जैसे औरत करती है वैसे ही पुरुष भी कर सकता है, यह समाज में स्थापित होना चाहिए।

हमारे एक परिचित पुरुष ने जब पालनाघर चलाने की योजना बनाई तथा कुछ परिचितों के बच्चों के साथ पालनाघर

शुरू किया तो कई महिलाओं की प्रतिक्रिया थी कि आप अपना बच्चा पुरुष के पास छोड़ती हैं, वह कैसे सम्भाल पाएंगे? लेकिन देखने को मिला कि बच्चे उस क्रेश/पालनाघर में जाने का सुबह इन्तजार करते हैं।

जरूरत इस बात की है कि प्राकृतिक अन्तर को छोड़ कर सभी जेण्डर आधारित कामों का बंटवारा खत्म हो। और इस हकीकत को समझ लिया जाए कि श्रम के भिन्न अवसर हमारे समाज में स्त्री-पुरुष के बीच भेद का प्रमुख कारण है।

(लेखिका स्त्री अधिकार संगठन की कार्यकर्ती हैं तथा सत्यवती कालेज (सांध्य) में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं।)

# यहां नहीं है मज़हब की दीवार कोई

■ मनोज ठाकुर

नेनू मुहम्मद दुर्गापूजा में प्रतिमा स्थापना से लेकर विसर्जन तक में बराबर शरीक होते हैं। आरती-आचमन भी करते हैं। दरअसल, नेनूभाई तो बानगी भर हैं। पश्चिम बंगाल के जलपाईगुड़ी जिला अंतर्गत गांव बलराम बस्ती में कमोबेश सभी मुस्लिम परिवार दुर्गापूजा मनाते हैं। यहां के हिंदू भी पीछे नहीं, ईद की खुशियों में बढ़-चढ़कर शरीक होते हैं। दो राय नहीं कि भाईचारे की इससे बेहतर मिसाल कम ही मिलेगी।

बलराम बस्ती की आबादी है 1650। इनमें महज डेढ़ सौ हिंदू हैं और बाकी मुस्लिम। यहां 19 वर्ष पूर्व यानी 1989 में दुर्गापूजा मनाने की परंपरा शुरू हुई। इसके लिए 12 सदस्यीय कमेटी का गठन किया गया। छह सदस्य हिंदू थे तो छह मुस्लिम। कमेटी के अध्यक्ष चुने गए थे सुलेमान मुहम्मद। फिर तय हुआ कि एक-दूसरे के त्यौहारों में दोनों समुदायों के लोग बढ़-चढ़कर हिस्सा लेंगे ताकि एकता बनी रहे। मौजूदा दुर्गापूजा कमेटी में 26 सदस्य हैं। अध्यक्ष पंकज चौधरी हैं, तो मुस्लिम सदस्यों की संख्या 18 है, इनमें नेनू मुहम्मद, शुक्र मुहम्मद, अलमो मुहम्मद, जनबारा मुहम्मद, समसुल मुहम्मद, वजीरुद्दीन मुहम्मद शामिल हैं। कमेटी अध्यक्ष पंकज राय 'बापी' का कहना है कि चाहे ईद हो या मुहर्रम, दुर्गापूजा हो या दीपावली। गांव के हिंदू-मुस्लिम सभी त्यौहार

साथ-साथ मनाते हैं। इस अवसर पर दोनों समुदायों के लोग साथ-साथ भोजन करते व पूजा-इबादत में शरीक होते हैं। यहां तक कि मुहर्रम में दोनों समुदायों के लोग साथ-साथ गदका खेलते हैं, अन्य परंपराओं का भी निर्वाह करते हैं। शादी-विवाह में भी एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। इसी प्रकार 19 वर्षों से मुस्लिम परिवार के लोग दुर्गापूजा विधि का पालन करते हैं। आरती करने व अंजली देने में भी शामिल होते हैं। उत्साह देखकर कहीं से नहीं लगता कि दुर्गापूजा हिंदुओं का त्यौहार है। प्रतिमा विसर्जन में भी दोनों समुदायों के लोग शामिल होते हैं। पूजा पूरी तरह से गांव के निवासी आपस में चंद्रा संग्रह कर करते हैं। जितनी राशि जमा हो पाती है, उसी के हिसाब से पूजा का बजट बनता है। कमेटी के सदस्य सईदुल इस्लाम का कहना है- 'हम लोग पूजा और इबादत में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं मानते। यह नहीं समझते कि दुर्गापूजा हिंदू का पर्व है या मुसलमान का। यह दोनों के लिए बराबर है। दुर्गापूजा ही नहीं, दीपावली और काली पूजा भी दोनों समुदाय के लोग साथ-साथ करते हैं। आप कह सकते हैं कि बलराम बस्ती में राम और रहीम में कोई फर्क नहीं है। दरअसल खुदा को जिस रूप में याद किया जाए, वह उसे पसंद करता है।'

साभार : जागरण

## हुमायूं को बाबर की वसीयत

बेटा, इस हिंदुस्तान में बहुत से धर्म हैं। यहां अपनी बादशाहत के लिए हम अल्लाह के शुक्रगुजार हैं। हमें अपने दिल से सभी तरह के भेदभाव को मिटा देना चाहिए और हरेक समुदाय को उसके रिवाजों के अनुसार न्याय देना चाहिए। इस देश के लोगों को जीतने के लिए गौ-हत्या से बचो और प्रशासन में लोगों को शामिल करो। हमारे राज्य की सीमाओं में स्थित इबादत की जगहों और मंदिरों को नुकसान न पहुंचाओ। शासन का ऐसा तरीका ढूंढो जिससे लोग हुकूमत से खुश हों और बादशाह लोगों से खुश हो। शिया और सुन्नी के भेदों की उपेक्षा करो क्योंकि यह इस्लाम की कमजोरी है। विभिन्न रिवाजों को अपनाने वाले लोगों को एकजुट करके रखो ताकि इस बादशाहत का कोई हिस्सा बीमार न हो।

राष्ट्रीय संग्रहालय में रखे मूल का रूपांतरण

## फाँसी के तख्ते से जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पेंसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना क़तई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल ठूढ़ था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

### चौबीस घंटे

अभी पांच मिनट में घड़ी दस बजाएगी। खूबसूरत, गर्माहट लिये हुए बसंत की शाम, अप्रैल 24, 1942।

एक अधेड़ और कुछ-कुछ लंगड़ाते हुए आदमी का हुलिया बनाये मैं जितना तेज़ चल सकता हूँ चल रहा हूँ- मैं जेलिनेक के घर पहुंचने की जल्दी में हूँ जिसमें दस बजने के यानी कर्फ्यू के वक्त घर बंद होने के पहले ही पहुंच जाऊं। वहां मेरा सहायक मिरिक मेरी बात जोह रहा है। मैं जानता हूँ कि इस बार उसे मुझसे कोई ज़रूरी बात नहीं कहनी है, न मुझे ही उससे कोई खास बात कहनी है। लेकिन किसी से मिलना अगर तय हो चुका हो तो फिर उसमें चूक न होनी चाहिए क्योंकि उससे नाहक़ घबराहट फैलती है, और मुझे यह बात बिल्कुल मंजूर न होगी कि मेरी वजह से मेरे शरीफ़ मेज़बानों को व्यर्थ परेशान होना पड़े।

वे एक प्याली चाय से मेरा स्वागत करते हैं। मिरिक है- और फ्रीड दंपती भी। इसी को खतरा मोल लेना कहते हैं। 'कामरेड्स, मैं तुम लोगों से मिलना चाहता हूँ, लेकिन यों सब साथ नहीं। इतने आदमियों का इस तरह एक साथ कमरे में होना जेल का, मौत का, सीधा रास्ता है। छिपकर काम करने के जो नियम हैं तुम लोगों को



या तो उनका पालन करना होगा, या हम लोगों का साथ छोड़ देना होगा क्योंकि इस तरह तुम खुद अपने को और अपने साथ दूसरों को खतरे में डाल रहे हो। समझे?'

'हाँ।'

'और तुम मेरे लिए क्या लाए हो?'

'रेड राइट्स के पहली मई वाले अड्डे के लिए सामग्री।'

'वाह। और तुम मर्को?'

'कोई नयी बात नहीं। काम ठीक से

चल रहा है...'

'अच्छा तो ठीक है। अब मैं पहली मई के बाद तुम लोगों से मिलूंगा। पहले खबर भेजूंगा। अच्छा, तो फिर विदा।'

'एक प्याली चाय और?'

'नहीं-नहीं, मिसेज़ जेलिनेक। इस वक्त इस कमरे में बहुत ज़्यादा लोग हैं।'

'अरे एक प्याली तो ले ही लीजिए।'

प्याली में अभी जो चाय ढाली गयी उससे भाप निकल रही है। दरवाज़े की घंटी बजती है।

इस वक्त, रात के इस पहर में? कौन हो सकता है?

आगंतुक अधीर हो रहे हैं। वे दरवाज़ा पीटते हैं।

‘जल्दी खोलो! पुलिस !’

झट खिड़की से निकल भागो। मेरे पास पिस्तौल है, मैं उन्हें रोके रखूंगा। मगर अब तो बहुत देर हो गयी, वक्त निकल गया। गेस्टापो के आदमी खिड़कियों के नीचे खड़े हैं और उनकी पिस्तौलों का मुंह कमरे की तरफ है। खुफिया के लोगों ने दरवाजा तोड़ दिया है और रसोई में होते हुए घुसते चले आ रहे हैं। एक, दो, तीन... नौ। वे मुझे देख नहीं पाते क्योंकि मैं उस दरवाजे के पीछे हूँ जिससे वे कमरे में दाखिल हुए। मैं आसानी से उनकी पीठ में गोली मार सकता था। मगर उनकी नौ पिस्तौलों का मुंह दो औरतों और तीन निहत्थे आदमियों की तरफ है। अगर मैं गोली चलाता हूँ तो मेरे पांच दोस्त मुझसे पहले ज़मीन पर लोटते नज़र आयेंगे। अगर मैं अपने को गोली मारता हूँ तो भी पिस्तौलें चल जायेंगी और वे पांचों मारे जाएंगे। अगर मैं गोली नहीं चलाता तो वे लोग छः महीना साल भर जेल में बंद रहेंगे, फिर इंकलाब उन्हें छुड़ा लेगा और उनकी जान बच जायेगी। सिर्फ़ मिरैक और मैं ज़िन्दा नहीं बचूंगा: वे हमें यातनाएं देकर मार डालेंगे। मुझसे तो वह एक भी बात नहीं निकाल पाएंगे, मगर मिरैक से? वह आदमी जो स्पेन में लड़ा, जो दो साल तक फ्रांस के एक कंसेन्ट्रेशन कैम्प में रहा, जो लड़ाई के दौरान छुपकर फ्रांस से भाग आया- नहीं वह कभी कुछ नहीं बतावेगा। फ़ैसला करने को मेरे पास दो सेकंड हैं- या तीन?

अगर मैं गोली चलाता हूँ तो मैं किसी को नहीं बचा सकता, सिवाय अपने आप को, यातनाओं से- लेकिन पांच साथियों की जानें चली जायेंगी।

क्या यह बात ठीक है? हां।

अच्छा तो फ़ैसला हो गया। मैं कोने से निकलकर बाहर आ जाता हूँ।

‘आह! एक और!’

मेरे चेहरे पर पहला वार। किसी की जान लेने के लिए काफी था वह।

‘हथियार डाल दो।’

दूसरा घूँसा, और फिर तीसरा घूँसा।

बिल्कुल वही हो रहा है जिसकी मैंने कल्पना की थी।

करीने से सजा हुआ घर अब फर्नीचर और टूटी-फटी चीज़ों का एक ढेर हो रहा है।

और भी लात और घूँसे।

‘मार्च।’

वे मुझे घसीटकर एक मोटर में ले जाते हैं। पूरे वक्त पिस्तौलों

का मुंह मेरी तरफ है। मोटर में ही वह मुझसे सवाल करना शुरू करते हैं।

‘तुम कौन हो?’

‘प्रोफेसर होराक।’

‘तुम झूठ बोलते हो।’

जवाब में मैं अपने कंधे उचकाता हूँ।

‘हिलो-डुलो मत वर्ना हम गोली मार देंगे।’

‘मारो भी!’

गोली न मारकर वे मुझे घूँसा मारते हैं।

हमारे पास से एक गाड़ी गुज़रती है। मुझे ऐसा लगता है मानो उसे सफेद चादर ओढ़ा दी गयी हो। शादी की गाड़ी- रात को? मुझे ज़रूर बुखार होगा।

पेचेक बिल्डिंग, गेस्टापो का हेडक्वार्टर। मैंने कभी न सोचा था कि मैं इसमें ज़िन्दा दाखिल हूँगा। वे मुझे उसकी चौथी मंजिल तक दौड़ाकर ले जाते हैं। अहा, यही वह मशहूर 2-अ विभाग है- कम्युनिस्ट-विरोधी जांच-पड़ताल का सदर दफ्तर। मुझे बड़ा कुतूहल होता है।

एक लंबा-सा, दुबला-पतला कमीसार, जो मुझे गिरफ्तार करने वाली टुकड़ी का नायक था, रिवाल्वर अपनी जेब में रखता है और मुझे अपने दफ्तर में ले जाता है। वह मेरी सिगरेट को माचिस दिखाता है।

‘तुम कौन हो?’

‘प्रोफेसर होराक।’

‘तुम झूठ बोलते हो।’

उसकी कलाई पर जो घड़ी बंधी है उसमें ग्यारह बजा है।

‘इसकी तलाशी लो।’

वे मुझे नंगा करते हैं और मेरी तलाशी लेते हैं।

‘इसके पास शिनाख्त का एक कार्ड है।’

‘नाम?’

‘प्रोफेसर होराक।’

‘इसका झूठ-सच पता लगाओ।’

वे टेलीफोन करते हैं।

‘हम ठीक ही कहते थे, यह नाम दर्ज नहीं है। कार्ड जाली है।’

‘किसने तुमको यह कार्ड दिया?’

‘पुलिस हेडक्वार्टर ने।’

डंडे की पहली चोट। फिर दूसरी फिर तीसरी- गिनना जरूरी है क्या? हां भाई, इन आंकड़ों की रिपोर्ट लिखाने की कोई जगह नहीं है।

‘तुम्हारा नाम ? बोलो। तुम्हारा पता ? बोलो। किन-किन लोगों से तुम्हारा संपर्क था, उनके पते ? बोलो। बोलो, वर्ना हम तुम्हारी कुटुम्बस करेंगे।’

आखिर कोई कितनी मार सह सकता है?

रेडियो के सिगनल से पता चलता है कि आधी रात हो गयी। अब कैफ़े बंद हो रहे होंगे और आखिरी लोग अपने घर जा रहे होंगे। प्रेमी-प्रेमिका दरवाजे के सामने खड़े हैं, एक दूसरे से विदा लेना उनके लिए कठिन हो रहा है। लम्बा-सा, दुबला-पतला कमीसार चेखुश, मुस्कराता हुआ कमरे में आता है।

‘सब कुछ ठीकठाक है, जनाब सम्पादक जी?’

यह इसको किसने बतलाया ? जेलिनेक दंपती ने ? फ्रीड दंपती ने ? क्यों, उन्हें तो मेरा नाम भी नहीं मालूम।

‘देखो, हमें सारी बातें मालूम हो गयी हैं। हमसे कुछ छिपाओ मत। पागल न बनो। अक़ल से काम लो।’

उनके खास कोश में अक़ल से काम लेने का मतलब गद्दारी करना होता है।

मैं अक़ल से काम नहीं लूंगा।

‘इसे बांधकर ज़रा और लगाओ।’

एक बजा। सड़क पर की आखिरी गाड़ियां गराजों में बंद हो रही हैं, सड़कें खाली हैं, रेडियो अपनी आखिरी रसिक सुनने वालों को रात का अभिवादन करता है।

‘केन्द्रीय समिति का सदस्य और कौन है? तुम्हारे ट्रांसमीटर कहां हैं? तुम्हारा प्रेस कहां हैं? बोलो! बोलो! बोलो!’

अब मैं फिर अपने ऊपर पड़ने वाले घूँसे गिन सकता हूँ। मुझे अब अगर कहीं दर्द महसूस होता है तो होंठों में जिन्हें मैं चबाता रहा हूँ।

‘इसके जूते निकालो।’

यह सच है मेरे पैरों को अभी मार-मारकर बेजान नहीं बनाया गया है। मुझे ऐसा लगता है। पांच छः सात, जैसे वह डण्डा हर बार मेरे दिमाग तक दौड़ जाता हो।

दो बजा। प्राग सो रहा है। कहीं एक बच्चा हल्के से रोयेगा, एक आदमी अपनी बीवी के कूल्हे थपथपायेगा।

‘बोलो ! बोलो!’

मेरी जीभ लहलुहान होंठों पर दौड़ जाती है और गिनने की कोशिश करती है कि कितने दांत गिर गये। मैं नहीं गिन पाता। बारह, पंद्रह, सत्रह? नहीं वह तो उन कमीसारों की संख्या है जिनके सामने मेरी ‘पेशी’ हो रही है। कुछ के चेहरों पर तो थकान लिखी

हुई। लेकिन फिर भी मौत क्यों नहीं आती।

तीन बजा। चौगिर्द की बस्तियों में सुबह शहर में दाखिल हो रही है। तरकारी-भाजी वाले अपनी गाड़ियां चलाते हुए बाजार की तरफ जा रहे हैं, सड़की की सफाई करने वाले अपने काम में लग गये हैं। शायद एक दिन और मैं पौ फटते हुए देख सकूंगा।

वह मेरी पत्नी को अन्दर लाते हैं।

‘तुम इसको जानती हो?’

मैं अपने मुंह के आस-पास का खून घोंट जाता हूँ, जिससे वह उसे देख न सके...लेकिन मैं भी कैसा गधा हूँ, उससे क्या होगा, खून तो मेरे चेहरे के रेशे-रेशे से और मेरी उंगलियों से बह रहा है।

‘तुम इसको जानती हो?’

‘नहीं, मैं नहीं जानती।’

उसने इस तरह से यह बात कही कि उसकी निगाह तक न चूकी कि कोई भांप जाता कि उसे दिल पर क्या गुजर रही है। खरा सोना है वह। उसने हम लोगों की यह शपथ पूरी की कि वह मुझको किसी हालत में पहचानेगी नहीं, गो अब उससे होता क्या है। इन लोगों को मेरा नाम किसने बतलाया?

वे उसे ले गये। मैंने बहुत खुश-खुश निगाहों से (जितना कि मुमकिन था) उसको विदा किया। शायद मेरी निगाहें खुश न थीं। मैं नहीं जानता।

चार बजा। सुबह हो रही है या नहीं? अंधेरी खिड़कियां मुझे कोई जवाब नहीं देतीं। और मौत के आने में देर हो रही है। क्या मैं खुद आगे बढ़कर उससे मिलूँ ? कैसे?

मैं पलटकर किसी को मारता हूँ और फर्श पर गिर पड़ता हूँ। वे मुझे ठोकर मारते हैं। बूटों से मुझे रौंदते हैं। यह ठीक है, अब जल्दी ही अंत हो जायेगा। काला-काला कमीसार खड़ा-खड़ा मेरी दाढ़ी खींचकर मुझे उठाता है और जो मुट्ठी भर बाल उसके हाथ में आ जाते हैं उन्हें मुझको दिखलाकर शैतान की हंसी हंसता है। मुझे सचमुच अब इस पर हंसी-सी आती है, अब मुझे दर्द का एहसास नहीं होता।

पांच बजा। छ...सात...दस। फिर दोपहर हुई, कारीगर अब अपनी बेंचों पर होंगे, बच्चे स्कूल में। दुकानों में चीजों की खरीद-फरोख्त चल रही है, घर पर लोगों को दोपहर का खाना मिल रहा है। मेरी मां शायद इस वक्त मेरे ही बारे में सोच रही है। मेरे साथी शायद जान गये हैं कि मैं पकड़ा गया और अब इस बात के इन्तज़ाम में लगे हैं कि खुद भी न पकड़े जायें...अगर मैं सब बातें उगल दूँ तो क्या हो...नहीं, ऐसा नहीं होगा, तुम मुझ पर भरोसा

रखो। खैर जो भी हो, अब अन्त दूर नहीं है। यह सब रात का एक बुरा सपना है, बुखार की हालत में देखा गया एक भयानक खराब सपना। हर तरफ से मुझे पर लात-घूंसे बरसते हैं। फिर वे मुझ पर पानी डालते हैं मुझे होश में लाने के लिए। फिर मार और चीखें 'बोलो! बोलो! बोलो!' मगर इतने पर भी मेरी मौत नहीं आती। मां, बाबू, तुमने मुझे इतना मजबूत क्यों बनाया कि मैं यह सब भी सह सकूँ?

तीसरा पहर। पांच बजा। वे सब बुरी तरह थक गये हैं। अब उनके वार धीरे-धीरे हो रहे हैं, काफी रुक-रुक कर, मगर फिर भी वे अपना सिलसिला टूटने नहीं देते क्योंकि वे बुरी तरह थक गये हैं और उनकी समझ में नहीं आता कि और क्या करें। अचानक दूर से, न जाने कितनी दूर से एक शांत गंभीर आवाज़ आती है जो मुझ थपकी की तरह भली जान पड़ती है:

‘उसकी काफी मरम्मत हो चुकी।’

उसके कुछ देर बाद मैं एक मेज से टिककर बैठा हुआ था जो बार-बार मुझसे अलग हो जाती थी और फिर-फिर मेरे पास लौट आती थी। कोई अंदर आया और उसने मुझे पानी दिया। किसी ने मुझे एक सिगरेट दिया, जिसे मैं नहीं उठा सका। फिर किसी ने मुझको जूतियां पहनाने की कोशिश की मगर फिर कहा, मुझसे नहीं बनता। फिर उन्होंने मुझे कुछ चलाकर और कुछ उठाकर सीढ़ी से नीचे उतारा और मोटर में बिठाया। मोटर चली तो एक आदमी ने अपनी पिस्तौल का निशाना मेरी तरफ कर दिया। यह मुझे हंसी की बात मालूम हुई, मेरी उस हालत में। हम एक टैक्सी के पास से गुज़रे, जो सफेद फूलों से ढंकी हुई थी, शादी की गाड़ी थी वह- मगर हो सकता है यह सिर्फ एक सपना हो। या सपना या बुखार या मरना या खुद मौत। मगर मरना मुश्किल है और यह आसान-मुश्किल न आसान। यह सेमर के फूल की तरह हल्का है- ज़रा सा फूक दो तो सब उड़ जायेगा।

सब? नहीं, अभी नहीं। अब मैं फिर खड़ा हूँ, सचमुच खड़ा हूँ, अकेला, बिना किसी सहारे के। अभी-अभी मेरा चेहरा एक गन्दी

पीली दीवार के समान हो जायेगा जिस पर छींटें हैं...काहे के? खून के, ऐसा लगता है। हां, यह खून है। मैं उंगली उठाकर उसे खून में डुबोता हूँ...हां यह ताज़ा खून है...मेरा खून...

पीछे से कोई मेरे सिर पर मारता है और मुझे हाथ ऊपर करने और घुटने मोड़कर बैठने का हुक्म देता है। नीचे-ऊपर-नीचे।

तीसरी बार मैं गिर पड़ता हूँ...

एक लम्बा-सा नात्सी सिपाही जो वहीं मेरे सिर पर खड़ा है मुझे उठाने के लिए मुझको ठोकर मारता है। अब मुझे ठोकर मारना बिल्कुल बेकार है। कोई और आदमी मेरा मुंह धुला देता है। मैं मेज़ से लगा बैठा हूँ। एक औरत मुझे कोई दवा देती है और पूछती है कि मुझे सबसे ज़्यादा तकलीफ कहां होती है। मैं कहता हूँ कि सारा दर्द मेरे दिल में है।

‘दिल तुम्हारे है भी?’ वह लम्बा नात्सी सिपाही कहता है।

‘क्यों नहीं, जरूर,’ मैं कहता हूँ और मुझे अपने ऊपर गर्व होता है कि अभी मुझमें इतनी ताकत है कि अपने दिल की इज्जत बचाने के लिए लड़ सकूँ।

फिर सब कुछ गायब हो जाता है- दीवार, दवा लिये औरत और वह लम्बा नात्सी सिपाही।

मैं फिर जब होश में आता हूँ तब एक कोठरी का दरवाज़ा मेरे सामने खुलता है। एक मोटा-सा नात्सी सिपाही मुझे अन्दर खींच लेता है, मेरी तार-तार हो रही कमीज को जल्दी से उतारता है, मुझे एक पुआल के गद्दे पर लिटाता है। वह मेरी सूजी हुई देह पर हाथ फेरता है और पट्टियां मंगाता है।

सिर हिलाते हुए वह पास ही खड़े एक दूसरे आदमी को लक्ष्य करके कहता है, ‘जरा देखो, कैसा पक्का काम करते हैं सब!’

फिर कहीं दूर, बहुत दूर से वह शान्त गम्भीर आवाज़ सुनायी देती है जो मुझे एक थपकी की तरह सहानुभूतिशील जान पड़ती है।

‘अब सुबह तक इसका बचना मुश्किल है।’

पांच मिनट में दस का घंटा बजेगा। बसन्त की एक प्यारी-प्यारी सुहावनी गर्म शाम। अप्रैल 25, 1942।

...क्रमशः जारी

**isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए